भगवान् श्रीमायानंद चैतन्यप्रणीत

दिव्यदृष्टि-औपधर्म

अर्थात्

विश्वरूप-दर्शन-योग.

(विविध प्रकरणों सहित)

"सत्य ज्ञान दिया, परंतु हठसे देखें उसे पंथ में,
आज्ञाका मम पूर्ण भंग करिके जानें कहें संत मैं, ।
याहीसों निज 'औपधर्म' श्रुतिका लेखी किया, सो गहो;
जानो नाम, सु 'दिव्यदृष्टि' लखिके, धारो, उसीमें रहो." ॥

—श्रीमायानन्द चैतन्य.

छटवां संस्करण

संवत १९९०] मूल्य १।) [सन १९३३

संपादक,

डॉ० श्रीधर रामचन्द्र देसाई,

गोविंद लक्ष्मण देसाई,

ग्वालियर.

प्रकाशक,

गोविंद लक्ष्मण देसाई,

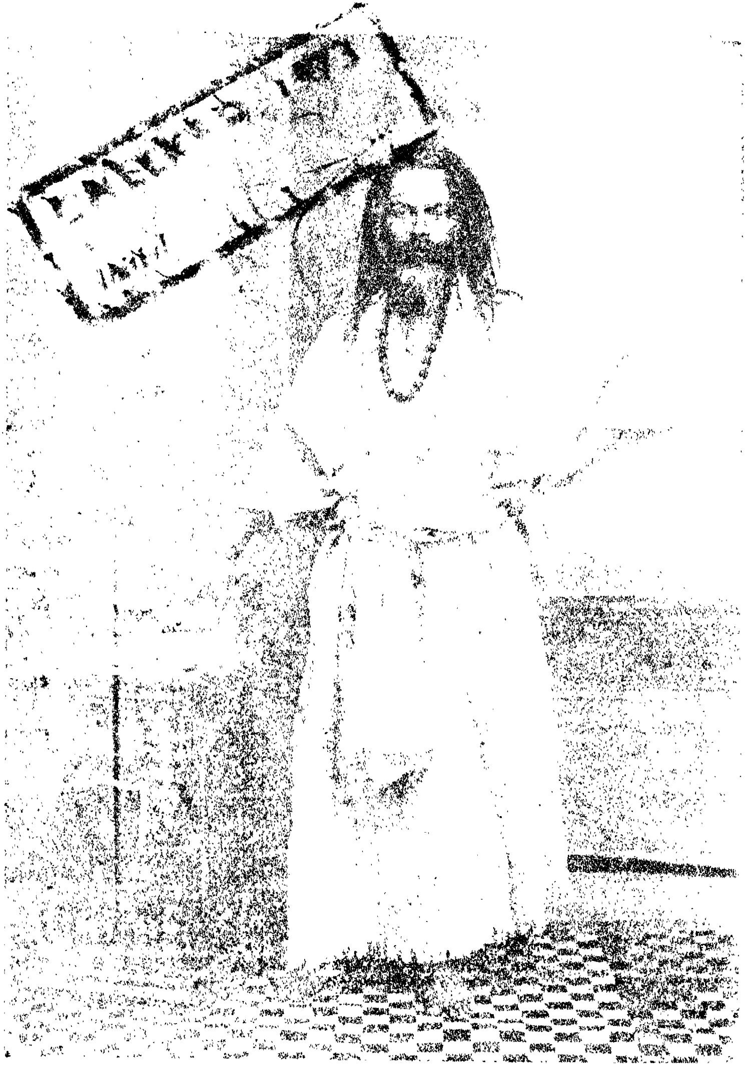
संचालक, 'विज्ञाननौका'-कार्यालय,

जयाजी बाजार, ग्वालियर.

मुद्रक,

देसाई आर्ट प्रिंटिंग प्रेस.

ग्वालियर



भगवान श्री मायानन्द चैतन्य।

अर्पण पत्रिका

यह

दिव्यदृष्टि

नित्य स्ववर्ण में रहकर ही

विश्वरूप अखण्ड

देखनों सुलभ हो

इसलिये

सद्गुरुकी आज्ञानुसार

मुमुक्षुजनों को

अर्पण

की है.

औपधर्म प्रकाशक,

मायानन्द चैतन्य

---

१. ज्ञान-विज्ञान. २. स्वकर्म. ३. उपासना,

(अर्थात् भक्ति.) ४. धारणा व ध्यान.

औपधर्मफल

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिला दत्ता च सर्वावनिः
यज्ञानां च कृतं सहस्त्रमखिला देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुध्धृताः स्वपितरः त्रैलोक्य पूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

तीर्थों का सब स्नान कीन्ह उसने, भू सर्व दी दान में ।
देवों को सब ज्ञानचक्षु करके, पूजे वही ध्यान में ॥
पुर्खों की गति विश्व के वह करे, त्रैलोक्य पूजे वही ।
किंचित्काल सुब्रह्मभाव जिसके बैठे, न जावे कहां ॥

—योगवासिष्ठ

विषय-सूची

शुद्धिपत्र।

(नोटः—ग्रंथ के नाम की लाइन सहित पंक्ति की संख्या गिनना.)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१५	चारों	सब
१८	१६	चातुर्वर्ण्य की दृष्टीसे	चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की दृष्टी से
१८	१९	शास्त्रदृष्टी से	शास्त्ररूढी की दृष्टी से
५०	८	संजय	श्रीकृष्ण
१०२		नक्षा नं. १ के नीचे यह टीप समझना.	टीपः-उपरोक्त 'शब्दमय' सृष्टी जाननेवाला 'गुणातीत' है.
११५	३	कर्म	कूर्म
१३१	१०	विण्णुरूप	विष्णुरूप



प्रकाशक की विज्ञप्ति।

विश्वरूप परमात्मा की कृपा से भगवान् श्रीमायानन्द चैतन्य प्रणीत 'दिव्यदृष्टि' ग्रंथ का यह छटवां संस्करण प्रकाशित करने का सुअवसर प्राप्त हुवा है. २० वर्ष में ५ संस्करण छप चुके. सार्वभौम धर्म बतलाने वाले भगवान् के सब ग्रन्थों में 'दिव्यदृष्टि' यह मूल-भूत प्रथम ग्रंथ है. इसमें दर्शित किये हुवे सिद्धांत पूर्ण अखण्डनीय तथा अंतिम भूमिका के होते हुवे भी कितनी सरल युक्ति से सबको ग्रहण करने योग्य स्पष्ट किये हुवे हैं यह बात उसकी लोकप्रियता को देखने से मालूम होसकती है. अबतक दिव्यदृष्टी के हिंदी व मराठी भाषा में कई संस्करण छप चुके हैं, और 'अन्यान्य भाषाओं में भी इसका रूपान्तर होने की अतीव आवश्यकता है' इस प्रकार की भिन्न २ विभागों से लोगों की सूचनाएँ आरही हैं. इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् के सार्वभौम सिद्धांत लोग अत्यंत रुचि से ग्रहण करके स्थायी शांति का लाभ उठा रहे हैं. 'दिव्यदृष्टी' के प्रत्यक्ष प्रसार की दृष्टी से भी विचार किया जाय, तो इस सिद्धांत का प्रत्यक्ष सप्रयोग उपदेश द्वारा प्रचार कार्य करनेवालीं 'विज्ञाननौका-कार्यालय' नाम की अनेक संस्थाएँ विविध स्थानों में स्वयंस्फूर्ति से स्थापित हुई हैं, जिनका चिरपरिणामी कार्य बिना किसी ऊपरी दिखावट के शांतता से सर्वत्र होरहा है.

प्रथम तो, इस सांप्रदायरहित सनातन ईश्वरी सिद्धांत के प्रस्तुत समयमें आद्य प्रकाशक भगवान् श्रीमायानन्द चैतन्यजी (प्रस्तुत

ग्रन्थ के रचयिता) नें स्वयं १६ वर्ष तक भारतवर्ष में दिव्यदृष्टी का सर्वत्र अभूतपूर्व प्रचार कार्य करके, सत्संग प्रेमी लोगों के आग्रह से ॐकारजी में '**विज्ञानशाला**' सन १९२५ में स्थापन की, जिसका उद्देश ग्रंथ के कव्हर में दिया हुवा है. सारांश भगवान् के सांप्रदायरहित, अखण्ड परंपराप्राप्त, अंतिम आध्यात्मिक योगधर्म (औपधर्म) का इस प्रकार आर्यावर्त में सर्वत्र प्रसार होकर व्यवहार में रहते हुए भी लोगों को अभ्युदय-निःश्रेयसरूप नवजीवन प्राप्त होरहा है, इससे मुमुक्षुजनों को इस एकमेवाद्वितीय सतयुग-प्रवर्तक सिद्धांत में शनैः शनैः प्रेम वढरहा है यह वात अव निर्विवाद सिद्ध है. जातिभेद ध्यान में न लेते हुवे सव जाति के स्त्री-पुरुषों को अखंड परमात्मदर्शन का लाभ हो इसलिये उज्जैन, पुष्कर (अजमेर), कान-पुर, आग्रा, दिल्ली, ग्वालियर, जबलपुर, बनारस, अलाहाबाद, इंदौर, बंबई व पूना वगैरा प्रसिद्ध शहरों में भगवान् श्रीमायानंद चैतन्यजी नें वडे वडे विज्ञापन लगाकर स्वयं जो दिव्यचक्षु का प्रसार किया है, उसकी ओर ध्यान देने से भी उनके सर्वव्यापी अभूतपूर्व कार्य की कुछ थोडी कल्पना पाठक गण कर सकेंगे.

'दिव्यदृष्टि' ग्रन्थ के स्वरूप में बनकर उसका पहिला संस्करण यद्यपि सन १९१२ ई. में प्रकाशित हुवा, तथापि इस आत्मयोग का प्रचार सन १९०९ से श्रीमायानंद चैतन्य करही रहे थे. विश्व के खास कार्य के हेतु अपना अवतार हुवा है, यह आंतरीय ज्ञानयुक्त स्फूर्ति राम, कृष्ण, आदि अन्य दशावतारी पुरुषों के समान श्रीमाया-नन्द चैतन्यजी को भी पूर्वाश्रम में ही थी. परंतु युगचक्र की धार्मिक

क्रान्तियोंमें से अपने स्थान का स्पष्ट बोध होने के लिये योग्य समय और बाह्य परिस्थिति का आघात प्राप्त होने की आवश्यकता रहती है. कोई विशेष अधिकारी व्यक्तियों द्वारा इस संबंध में जो सूचनाएँ मिलती हैं, वही बाह्य परिस्थिति व्यक्त होने का प्रमुख कारण बन जाया करती है. श्रीरामचन्द्र कृष्णादि को भी वशिष्ठादिकों से इस प्रकार कीं निमित्तकारणरूप सूचनाएं मिलीं थीं और उस सांकेतिक इशारे से उन्होंने निज २ भूमिका पहिचान कर, तज्जन्य स्वयंस्फुरित निश्चय के बल से, स्वकीय अवतारित्व समयानुसार पूर्ण व्यक्त कर बतलाया. निज अवतारित्व का प्रसुप्त ज्ञान जाग्रत होने को बाह्य सूचना की अवश्यकता हुवा करती है या नहीं यह प्रश्न भिन्न है. साधारणत: यही देखने में आता है कि, बाह्य परिस्थिति का आघात हुवे विना आंतरीय स्फूर्ति जाग्रत नहीं होती. ज्वालामुखी पर्वत में यद्यपि अग्नि जलता रहता है, तथापि उसकी शक्ति पूर्णरूपसे बाहर व्यक्त होने के लिये वायु, जल आदि कुछ न कुछ बाह्य निमित्त-कारणों की आवश्यकता हुवा करती है. उसी न्याय से श्रीमायानन्द चैतन्य को निज अवतार भूमिका का पूर्ण व्यक्त ज्ञान उनके सत्-गुरु श्री विशु- द्धानंद सरस्वती के अल्पमात्र इशारे से तत्काल प्रगट हुवा; और इस स्फुरित भावना के अनुरूप, योग्य समय पातेही गयाजी में जाकर गृहस्थाश्रम परमेश्वरार्पण करके, विक्रम संवत् १९६६ के (सौर- मान से) वैशाख सुदी १५ को अवतार कार्य (बुद्धकार्य) को आरंभ करदिया. आप के अवतार कार्य का जन्म वा प्रारंभ उसी वर्ष से है; अर्थात जब से आप ' दिव्यचक्षु-दिव्यदृष्टि ' का प्रत्यक्ष 'बोध' देनेलगे

इसी समय से आपका अवतारकार्य दृष्टिगोचर होने लगा. 'बुद्ध-दर्शन' में—

कलियुग के प्रारम्भ में दस अरु पांच हजार।
वर्ष एक देखहिं सुजन नवम अंक सत द्वार॥

ऐसा जो विधान किया है वह भी इसी दृष्टी से है, ई. सन १९०९ से ही (अर्थात 'गीता रहस्य' प्रसिद्ध होने के आठवर्ष पहिले) आपने 'दिव्यचक्षु' का प्रचार करने को आरंभ करदिया था. श्रीकृष्ण परंपरा प्राप्त इस **'आत्मयोग'** की युक्ति का बीज उनसे इस प्रकार सारे भारत में बोदिया गया है. 'मनुष्याणां सहस्त्रेषु' के प्रमाण में जनता को परमात्मा का सत् दर्शन कराकर उनमें प्रेम उत्पन्न होने व स्थाई रहने की प्रत्यक्ष युक्ति बतलादेना यही 'बोध' (बुद्ध) अवतार का कार्य, है जो आपने पूर्णरूप से सफल कर बतलाया है.

'दिव्यदृष्टि' की विशेषता और महत्व क्या है और नित्य के व्यवहार में उसका लोगों को क्या व कितना उपयोग होसकता है; इत्यादि अनेक प्रश्नों के उत्तर 'दिव्यदृष्टि' का सूक्ष्म श्रवण, मनन, और निदिध्यासरूप अभ्यास से मिल सकते हैं. प्रस्तुत प्रकाशक का ही अनुभव यदि माननीय समझा जाय, तो वह स्पष्ट शब्दों में यह है कि, संसार के किसी भी सांप्रदायिक तत्वज्ञान के अभ्यास से जो समत्वयोग की शक्ति प्राप्त नहीं होसकती वह व्यवहार में रहकरही दिव्यदृष्टी के निश्चय से अल्प समय में ही सदिच्छावान लोगों को प्राप्त होती है. इसमें कोई संदेह नहीं; अनुभव लेकर देखें. दिव्यदृष्टी का सार

तथा विशेषता थोडेही में बतलायी जाय तो वह इस प्रकार है—

पृथक् पृथक् अल्प आकार-भास से भिन्नत्व कल्पना सत्य समझना यही अज्ञान भ्रम अथवा जीवभाव है. इस भाव से मनुष्य अपने को व्यक्ति मान समष्टि से भिन्न समझलेता है; व इसी कारण समस्त सुख-दुःखों का भोक्ता बन बैठता हैं. दिव्यदृष्टी के प्रयोग का दर्शन, मनन व निश्चय करने से अल्प समय से ही उपरोक्त भावना का लय होजाता है. 'अज्ञानरूप निद्रा का रूपांतर जागृति में होतेही दिव्यचक्षुवान पुरुष को परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का वैभव और शक्ति दिखने लगती है. इससे उसका व्यष्टिरूप का सूक्ष्म अहंकार भी लीन होकर समष्टि स्वरूप का अहंकार शेष रहता है, और वह सात्विक होने से विश्वरूप प्रेम को स्थिर करता है. विश्वप्रेम स्थिर होतेही व्यष्टिस्वरूप के कर्तव्य की जागृति होकर विकल्प नष्ट होकर बुद्धि में केवल संकल्प शेष रहता है जिससे निज वर्ण अर्थात स्वभाव-धर्म का यथार्थ बोध होकर वर्णानुकूल कर्म (अकर्म) में उसकी प्रवृत्ति होती है. इसी दशा में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का मर्म ध्यान में आता है कि स्वभाव कर्म ही मुक्ति दायक है. यह स्वभाव चार प्रकार के हैं; यही विश्वरूप विष्णु का चतुर्भज स्वरूप हैं.

सारांश यह कि, मनुष्यमात्र का '**विश्वरूप**' परमात्मा यही प्रत्यक्ष **एक ध्येय,** विश्वरूप यही सेव्य, चातुवर्ण्य के अनुसार विश्वकल्याणकारी आचरण करना यही परमात्मसेवा और यही ईश्वरी '**सार्वभौम** धर्म है; इसीसे सब को शांति प्राप्त होसकती है.

कोई भी मनुष्य-समूह वा देश जबतक गुणमूलक चातुर्वर्ण्य के कर्म सुव्यवस्थित स्वरूप से करने को स्वीकार न करेंगे व 'मेरा सुख और मरे' इस व्यष्टि हित की तमोगुणी वृत्ती से औरों के साथ आचरण करते रहेंगे तबतक यथार्थ और चिरस्थायी संघशक्ति उनमें उत्पन्न नहीं होगी, यह सब देशों के मनुष्यों को भगवान् का स्पष्ट संदेश व आदेश है. अस्तु.

मनुष्य समाज को प्रत्यक्ष 'अपरोक्षानुभव' देने से उसका जो आत्यन्तिक कल्याण होना संभाव्य है वह, परोक्षज्ञानानुभव का शब्द-ज्ञान देने से अथवा तन्मूलक ग्रन्थ प्रसार करने से होना असंभव है. यही विशेषता अन्य शब्दमय ग्रंथ और '**दिव्यदृष्टि**' ग्रंथ में है. अन्य किसी ग्रन्थ में प्रत्यक्ष अपरोक्षानुभव अथवा 'परमात्म-दर्शन' की गुरु-कुंजी नहीं पाई जाती वह केवल सद्गुरु-गम्य है ऐसा सबोंने लिखा है. ग्रन्थों में का आधुनिक उत्तम ग्रन्थ जो 'गीता रहस्य' उसमें भी दिव्यदृष्टि या अपरोक्षानुभव की युक्ति नहीं है। स्वयं लो. तिलककोही अपरोक्षानुभव न होने से अथवा वे अनुभव की उस भूमिका तक पहुंचे हुवे न होने के कारण गीतारहस्य ग्रन्थ अनुभव रहित रहा इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं ['लो. टिळक यांच्या आठवणी व आख्यायिका' भाग २ रा पृ. २२, ३४, २२८ देखना]. अर्थात 'दिव्यदृष्टी' से मनुष्य समाज का जो आत्यंतिक कल्याण होसकता है वह नीति के वा अध्यात्म मूलक अन्य ग्रन्थों से नहीं होसकता, यह स्पष्ट है. दिव्यदृष्टी के सिद्धांत का मनुष्यो में प्रचार होंने से जो कल्याण का कार्य होना संभाव्य है उसकी स्थूल

कल्पना इस ग्रंथ की अर्पणपत्रिका, व परिशिष्ट (पृ. १३३-१३६ व २०२) देखने से होसकती है, इसलिये उसकी यहां पुनरुक्ति करने की आवश्यकता मालूम नहीं होती.

'दिव्यदृष्टी' में 'औपधर्म' शब्द का संपादकीय स्पष्टीकरण अधिक स्पष्ट होने की आवश्यकता मालूम होने से ग्रन्थकारने निम्न लिखित भेजा है:—"'**औपधर्म**' नाम सामीप्यना मुक्ति; इसके पश्चात् सारूप्य व सायुज्य हैं. वे जिसके उसीने प्राप्त करने के हैं. 'औप' शब्द का अर्थ समीप है. 'अ+उप' का व्याकरण दृष्टी से 'ओप' होता है. 'अ+उप' का अर्थ सारूप्य होता है. परंतु व्याकरण की दृष्टी से हमने उसका उपयोग नहीं किया है. मुक्ति पांच हैं. सलोकता, समीपता, सरूपता, सायुज्य और सार्ष्ट्य. श्रीगुरु अपरोक्षानुभव देकर समीप्य भूमिका तक पहुंचा देते हैं और समीपता प्राप्त होतेही सरूपता प्राप्त होती है. इसलिये 'औपधर्म' का अर्थ 'सारूप्यता' मुक्तिप्रद धर्म ऐसा भी होसकता है; और इसी दृष्टीने श्रीकृष्णजीनें 'अनन्य' (सरूप, तद्रूप व एकरूप) शब्द का प्रयोग किया हुवा है. (गीतो. ११-५३) अल्पशक्ति विशेष शक्ति के निकट जाने पर तद्रूप होजाती है. शब्द के कार्य के लक्ष्य से (अर्थात् औपधर्म नाम सामीप्य धर्म इस हेतु से इसका उपयोग किया ग है, और वैसाही पाठकोंने भी जानना चाहिये," (श्रीमायानन्द चैतन्य) केवल शब्द-हेत्वर्थ भेद से अर्थ में कैसे फरक होता है यह बात ऊपर के विवेचन से ध्यान में आई होगी.

गायत्री-प्रश्नोत्तर में लग्न-समय में स्त्री के साथ भोजन करने के विषय में संपादकजीनें जो नोट दिया है उसमें ग्रंथ के प्रमाण देना भूल से रहगये हैं वे नीचे दिये अनुसार जानना:—

"देशं कालं च यः शक्तिं पापं चावेक्षयेत् ततः ।
प्रायश्चित्तं प्रकल्पं स्यात यस्य चोक्ता न निष्कृतिः ॥
देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते ॥"

—अत्री स्मृति. २४६-२४७.

"ब्राह्मण्या सह योऽश्नीयादुच्छिष्टं वा कदाचन ।
न तत्र दोषं मन्यंते नित्यमेव मनीषिणः ॥
देवद्रोण्यां विवाहे च यज्ञेषु प्रततेषु च ।
कल्पितं सिद्धमन्नाद्यं नाशौचं मृतसूतके ॥"

—अपस्तंब स्मृति. अ. ५-७ व १०-१६

"शय्या भार्या शिशुर्वस्त्रं उपवीतं कमंडलुः ।
आत्मनः कथितं शुद्धं न शुद्धं हि परस्य च ॥"

—शंखस्मृति. १६.१५.

इस संस्करण में **'विश्वरूप दर्शन मीमांसा'** व **'बुद्धावतार निर्णय'** ये दो स्वतंत्र प्रकरण अधिक बढाये गये हैं. ये प्रकरण बढाने की आवश्यकता इस कारण हुई कि विराट्‌रूप के विषय में कुछ थोडे लोगों के आक्षेप आते हैं, जिनका समाधान भगवाननें स्वयं 'दिव्यदृष्टी का रहस्य' इस प्रकरण में थोडेमें दिया है. तोभी सामान्य लोगों को अल्प शब्दों से बोध नहीं होता यह देख उसीको

निबंधरूप से स्पष्ट करने की अत्यंत आवश्यकता भासने लगी; वह इसमें पूर्ण की गई है. दिव्यदृष्टी के साधकरूप सिद्धीकरण के एकांगी स्वरूप को इन साधक बाधक विवेचनात्मक प्रकरणों से सर्वांग परिपूर्ण स्वरूप प्राप्त हुवा है. इसी प्रकार बुद्ध के अवतार के विषय में भी बहुत कुछ सूक्ष्म शोध और विचार किया गया है, जिससे बुद्धावतार के संबंध में बहुतांश जनता में जो अनेक तर्क फैले हैं वे कैसे भ्रमपूर्ण हैं यह बात इसमें सप्रमाण सिद्ध की है. आधुनिक अनेक पश्चिमीय और पौर्वीय शिक्षित लोग गौतम बुद्धको ही नवम अवतारी बुद्ध मानते हैं; परंतु हिंदुधर्मशास्त्र के पंचांगों में जिनको अवतारी 'बुद्ध' समझ के जयंति लिखी है वह व्यक्ति गौतम नहीं किंतु औरही है इसकी उनको कल्पना तक नहीं! अर्थात् हिंदू धर्म शास्त्रनें गौतम को अवतारी व्यक्ति माना है इस विचार प्रणाली में किंचिन भी सत्यांश नहीं यह इससे निर्णय होता है.

भगवान् के इतस्ततः बिखरे हुवे पद्यमय रत्नों का संग्रह पृथक 'पद्यावली' नाम के पुस्तक स्वरूप में के कुछ पद छापे गये हैं. इसलिये वे पद इस संस्करण में कम किये हैं.

अंत में पाठकों को निवेदन है कि वे इसमें दिये हुवे शुद्धिपत्र के अनुसार संपूर्ण पुस्तक में की अशुद्धता प्रथम शुद्ध करके फिर पढने को प्रारंभ करें जिससे पढते समय शब्दार्थ व हेतु में विपर्यास न होगा.

—प्रकाशक.

ॐ श्रीगुरुवे नमः।

स्वधर्मके अनुसार आत्मकल्याण, देशकल्याण और विश्वकल्याण करने की शक्ती उत्पन्न होने का एकमात्र स्थान

विज्ञानशाला

विज्ञानशाला स्थापन होने का उद्देश्य.—

सत्-हेतुमूलक सर्व कर्मों को यश देनेवाली वैदिक विज्ञान-विद्या तथा भगवद्गीतोक्त यथार्थ स्वराज्य का लाभ होने में विघ्न डालने वाले मनुष्यकृत धर्म, सांप्रदाय, जाति, पंथ, इत्यादिकों का निरुपयोगित्व ध्यान में आकर विश्व के संपूर्ण लोगों को यथार्थ ज्ञानप्राप्तीसे अव्यय ईश्वरीधर्म पालन करनेकी सुबुद्धि उत्पन्न होवे, और अर्जुन के समान परमात्मा का प्रत्यक्ष यथार्थ दर्शन तथा अनन्य-भक्ति की प्राप्ती होकर निज कर्तव्य सरलता से करते बने, असत में से सत में बिना प्रयास प्रवेश करते बने, अज्ञानरूप अन्धकार में से ज्ञानरूप प्रकाश में जाना सुलभ हो एवं मृत्यु के भय से छूट कर अमरत्व प्राप्त होवे, ऐसा साधार और सप्रयोग ज्ञान दिया जायगा. किसी भी धर्म, सांप्रदाय अथवा जाति के विवेकी स्त्री-पुरुष यह सनातन विद्या ग्रहण कर सकते हैं. शिक्षा बिना मूल्य दी जावेगी. इस विद्या को विश्व में फैलाने वाले सज्जन सत्-युग के प्रवर्तक ही हैं. विशेष हाल प्रत्यक्ष या डाक खर्च भेजनेपर पत्र द्वारा मालूम हो सकेगा. प्रचारक बनने वाले स्त्री-पुरुष विद्यार्थीयों की भी व्यवस्था की गई है.

पता:—विज्ञानशाला
पोस्ट मान्धाता-ॐकारजी,
(जिला नेमाड.)

औपधर्म-प्रकाशक,
मायानन्द चैतन्य

दिव्यदृष्टि

[प्रथम विभाग]

वही भक्त वैराग्य-संपन्न ज्ञानी,
हिये में सदा 'दिव्यदृष्टी' समाजी।
उसे देखते, स्पर्श से, पुण्य आवे;
तिसीका सुने बोध, सन्देह जावे॥

—मायानन्द चैतन्य.

भूमिका

गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु हैं, गुरु हैं भोलानाथ ।
परब्रह्म सद्गुरुहि हैं, तिनहिं नमाओ माथ ॥

हे परोक्षज्ञानी-जन हो !

(पद)

मैं कहता हूं निज तत्व, आज तुम जानो समय है ॥ आज० ॥
तुम दृश्यमात्र के द्रष्टा, यह विश्व तुम्हारी चेष्टा ।
अब छोडो भ्रम की लाज ॥ आज० ॥ १ ॥
जो कहे न मानो उसका, यह अनुभव श्रुति-संतों का ।
प्रिय-अस्ति-भाति से काज ॥ आज० ॥ २ ॥
'अस्ति' से दृश्य बतलाया, कल्पना 'भाति' ठहराया ।
'प्रिय' मायानन्द समाज ॥ आज तुम० ॥ ३ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

—गीता ४.७

भगवान् श्रीकृष्णजी का यह वाक्य गीताजी के चौथे अध्याय में प्रसिद्ध है। जिस-जिस समय सत्यधर्म का तत्व (आत्मज्ञान) भूलकर लोग 'जडवादी'[1] बनते हैं, अर्थात् अपने सहज-वर्णाश्रम-धर्म का पालन

---

१. यहांपर 'जडवाद' की यह विशेष, सूक्ष्म व व्यापक व्याख्या

छोडकर, अनेक देवता तथा अनेक पंथ निर्माण करके:—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

[**भावार्थः**—वेदों के विषय में बिना जाने वृथा प्रलाप करके प्रसन्नता माननेवाले, 'सब झूट है' ऐसा वाद करनेवाले, कामना से कर्म आचरनेवाले और स्वर्गभोगही को सर्वस्व जाननेवाले मूढजन हैं, वे ऐश्वर्य—भोगही में अपना चित्त लगाए रहते हैं; और जिन कर्मों का फल पुनरागमन है ऐसे अनेक प्रकार के कर्म उपस्थित करने के लिये अतीव मनोहारि, प्रफुल्लित तथा काव्य-अलंकारादि रसों से युक्त वाणी से एवं भ्रम में डालनेवाले लालची शब्दों से भाषण करते हैं। उनका यह भाषण भोग—ऐश्वर्य में आसक्त रहनेवाले पुरुषों का चित्त हरण

कीगयी है. इसका रूढ पारिभाषिक अर्थ संकोचरूप है. परन्तु यहांपर उसके संकोचार्थका त्याग करके विशेष-अर्थसे प्रयोग किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण आगेके प्यारेग्राफ के अंततक किया है. विश्वरूप को मिथ्या मानकर, भोगैकपरायण दृष्टीसे स्वार्थ-वृत्तीमेंही दत्तचित्त रहते हुए, विश्वरूप की स्वधर्म-परिपालन युक्त सेवा से पराङ्मुख रहना, यही सच्चा '**जडवाद**' है यह उसका आशय है. दिव्यदृष्टी की प्राप्तीसे 'सब रूप परमात्माकाही है' यह निश्चय होता है, जिससे विश्वरूप की स्वधर्मयुक्त सेवाबुद्धि का उदय होने से 'जडवाद' सर्वथैव नष्ट होजाता है—**संपादक**।

करता है, जिससे अंतःकरण की एकाग्रता करने के लिये दृढवृत्ति की बुद्धि उन्हें नहीं होने पाती. इससे वे दुःख के भागी बन जाते हैं; और अपने समान दूसरोंको भी भ्रम में डालकर दुःखी बनाने की युक्ति बतलाते हैं.]

जिस-जिस समय समाज इसतरह अनवस्था को प्राप्त होता हुवा धर्मग्लानी में डूब जाता है, तथा अधर्म प्रबल होजाता है, उस-उस समय परमेश्वरकी विशेष-विभूति जगत में प्रगट होकर, सत्यज्ञान के तत्व का सार्वत्रिक उपदेश करके भ्रम मिटाती है। तदनुसार आज-तक अनेक विभूतियां प्रकट होकर समयानुसार अपना-अपना अवतार-कृत्य यथावत् करगयीं हैं. परंतु, इस समयभी फिर उसी जड-प्रकृतिकी प्रबलता का आधिक्य होजाने से भगवान् श्रीकृष्णजीके—

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥

—गीता ४.२

इस त्रिकालाबाधित वचन की सत्यता लोगोंको पूर्णतया दिखाने के लिये, श्रीगुरुकी इच्छानुसार, श्रीवेदव्यासजीका भविष्य-कथन* सत्य करनेके हेतु, इस शरीरको भी उसी कर्ममें प्रवृत्त होना पडा. इसके लिये प्रथम विज्ञापनद्वारा लोगों को ज्ञानयज्ञ की सूचना देकर देखा. परंतु सत्य का प्रकाश अहंकार कदापि नहीं सह सकता. इससे 'हम भी सिद्ध हैं' यह मानकर अपने समान औरों को बनाने की इच्छा रखने-वाले अहंकारी मूढजन उपदेश-श्रवण को क्यों आवें ? और परमेश्वर के

* आगे '**दशावतार-दर्शन**' (श्लोक ९ वा, नोट) देखना—**संपादक.**

सर्वैश्वर्यसंपन्न व रमणीय विश्वरूप का यथार्थ-दर्शन करके सत्-रूपकी सेवाभी किसकारण करें?—'ये यथा मां प्रपद्यन्तेतांस्तथैव भजाम्यहम्' —भगवान् श्रीकृष्णजी के इस वाक्यानुसार उनके भाग्य में अशांति ही लिखी हुई है, इसके लिये वे बेचारे क्या करें! उनके लिये—

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्॥

यह सिद्धान्त हैही; अस्तु।

प्राकृतिक-चक्रस्थित जागतिक अवतार-तत्वके नियमानुसार—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

—गीता ४.८

परमेश्वर की यह विशेष-विभूति योग्य समय जानकर प्रस्तुत युग-समय में प्रगट हुई है. इसलिये प्रथमतः सहज-समाधिरूपी सत्य-भजन द्वारा विश्वरूप की सेवा करने के लिये जो विभूतियां उत्पन्न हुई हैं उन्हें उनके कर्तव्य का स्मरण देने के हेतु संतों का निजधन (गुप्तभेद) 'दिव्यदृष्टी' अर्थात् 'विश्वरूप-दर्शन-योग' स्पष्ट लिखा है, वही सत्पुरुष इस 'औपधर्म' को देखकर अपना रूप जानने से प्रसन्न होवेंगे। अब उनके लिये भगवान् के यहां का गुप्तचिन्ह कहकर वेदान्तज्ञान की अन्तिम कुंजी (गुप्तरहस्य) प्रसिद्ध करने के कारणों

की दिग्दर्शक यह भूमिका समाप्त करते हैं:—

> **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।**
> **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥**
>
> —गीता. ७.१९

[**भावार्थ:**—अनेक जन्म के पश्चात् ज्ञानवान् पुरुष "यह सर्व वासुदेवरूप है" इस प्रकार निश्चय करता हुआ मुझ 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ती कर लेता है एवं मुझे भजता है. परंतु इस प्रकारका महात्मा जगतमें अत्यंत दुर्लभ है]

जिसे इस रहस्यका पता लग जायगा उसे सदैव विश्वरूप का दर्शन होता रहेगा, जिससे वहभी उसी तरह 'महात्मा' बन जायगा।

औपधर्मप्रकाशक,

मायानन्द चैतन्य.

तीर्थों का सब स्नान कीन्ह उसने, भू सर्व दी दानमें
देवों को सब ज्ञानचक्षु करिके, पूजे वही ध्यान में।
पुर्खों की गति विश्व के वह करे, त्रैलोक्य पूजे वही
किंचित्काल सुब्रह्मभाव जिसके बैठे, न जावे कहीं॥

—योगवासिष्ठ

श्रीगुरवे नमः

दिव्यदृष्टि

—अथवा—

विश्वरूप-दर्शन-योग

(श्लोक)

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ १ ॥

× × ×

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ २ ॥

× × ×

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं ।
द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम् ॥
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् ।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥ ३ ॥

पद

कहहु सब आप सहित गोविन्द ॥ धृ० ॥

क्षर, अक्षर यह भेद बताये, काटन भ्रम को फन्द ॥धृ०॥ १ ॥
क्षर है रूप, मिठास सुअक्षर, नाम धन्यो है कन्द ॥धृ०॥ २ ॥
छांडो, भेद एक करि जानो, देखो निज आनन्द ॥धृ०॥ ३ ॥
श्रुति-स्मृति-संत कहैं, 'सत् मानो,' बोधहि मायानन्द ॥धृ०॥ ४ ॥

विषय–प्रवेश

हे श्रोताजन हो !

अर्जुन को जिस समय मोह प्राप्त हुआ उस समय अनार्यों के निजधन स्वरूप-भ्रमने उसे आवृत्त करलिया. अतः उसे अपने सत्यस्वरूप (विश्वरूप) का बोध कराने के हेतु संतों के हृदयरूप भगवान् श्री-कृष्णजीने गीताके नौ अध्याय कहकर कर्मस्वरूपवर्णनद्वारा चित्तशुद्धि कराके अर्जुन को परोक्षज्ञान तक पहुंचा दिया। अब रहा अपरोक्ष-ज्ञान; उसको दसवे* अध्याय से प्रारंभ करके श्रीकृष्णजीने उसे कहा किः—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—गीता १०.२-३

[अर्थः—"मेरी उत्पत्ति देवगणों को ज्ञात नहीं है और महर्षि जन भी नहीं जानते; कारण यह है कि, देवों का और महर्षियों का

* दिव्यदृष्टिके सिद्धांतके अनुसार नववे, दसवे और ग्यारवे तथा बारवे

आदिकारण मैंही हूं। हे अर्जुन, मैं जन्मरहित, अनादि हूं, तथा मैंही सबोंका परमेश्वर हूं, यह भेद जिसे ज्ञात है वह मोह से रहित होकर, सब मनुष्यों में निवास करता हुआ भी, सब प्रकार के पातकों से मुक्ति पाता है यह ध्यान में रखना। "]

श्रीकृष्ण भगवान् के यह वाक्य सुनकर अर्जुन ने कहा कि, " हे प्रभो ! इस समय तक आपने जो कहा, वह सब मेरी समझ में आया है; परन्तु सदैव चिन्तन करने योग्य स्वरूप कौनसा है यह निश्चय होने के लिये आप अपनी विभूति फिर विस्तार सहित वर्णन कीजिये। " इस प्रकार अर्जुन का भाषण सुनकर भगवान् कहने लगे,

---

अध्यायों में जो परस्पर सम्बन्ध उत्तम रीतिसे दर्शित किया जाता है और इसमें जो परस्पर योगसिद्धीकरण होता है, वह किसी टीका में प्रतिपादन किये हुए विषयों के अनुसार होता हुआ प्राप्त नहीं होता; और न इस अनन्यता की ओर किसी टीकाकारों का ध्यान आकर्षितही हुआ है. यहांपर प्रथमतः विभूति का विवेचन किया है (अध्याय १०वा); और उसके अनन्तर आत्मयोग का भेद प्रत्यक्ष प्रगट करते हुए (अध्याय ११वा), अर्जुन को विश्वरूप दर्शन कराया है. प्रथम ' विराट ' (आकार, दृष्य) का बोध होजाय, तो ' अक्षरब्रह्म ' (वस्तु) का लक्ष्य अतीव सुगमता से होता है यह बात सूक्ष्मेंद्रियशास्त्र से सर्वथैव अनुकूल तथा अनुभवसिद्ध भी है. व्यासजीने उसी मार्मिकता का परिचय ग्यारवे अध्याय में प्रतिपादन किये विषयके पहिले नववे—दसवे अध्याय का विषय प्रतिपादन करने, तथा ग्यारवेके बाद दोनों के योगस्वरूप विषय का विवेचन करने में दिया है. किंतु आकार, वस्तु तथा नाम का यह (योग) केवल दिव्यदृष्टी की तत्वदृष्टीमेंही उपलब्ध होता है यह विशेषता है—**संपादक**।

" मेरे स्वरूप का विस्तार कितना बडा है इसका पूर्णतया वर्णन करना अशक्य है, तथापि मेरे मूलस्वरूप का अर्थात् विश्वरूप का स्थूल बोध होने के लिये कुछ विशेष-विशेष विभूतियों का वर्णन करता हूं; एकाग्र-चित्त से श्रवण करना। "

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥

[**अर्थः**—" हे गुडाकेश ! मैं आत्मा (अक्षर) सर्व भूतमात्र में परिपूर्णता से व्याप्त हूं, और सर्व भूतमात्र का आदि, मध्य और अंत भी मैंही हूं, यह ध्यान में रखकर श्रवण करना." " हे अर्जुन विश्वस्थित सर्व तेजस्वी पदार्थों का विचार मेरे स्वरूप में करना; इन सब तेजस्वी पदार्थों में अंशुमान् ' रवि ' मेरी विशेष-विभूति है। द्वादश आदित्य मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु उनमें ' विष्णु ' यह मेरी विभूति है। यह संपूर्ण तारका-गण देखना, ये सब मेरेही स्वरूपमें हैं, परन्तु उनमें ' चंद्रमा ' मेरी विभूति है। चारों वेद मेरे स्वरूपमें हैं, परन्तु ' सामवेद ' यह मेरी विशेष-विभूति है। इसी प्रकार सब देव-समुदाय मेरे ही स्वरूप में हैं, परंतु ' इन्द्र ' यह मेरी विभूती है। इंद्रिय-गणों में ' मन ' मेरी विभूति है। संपूर्ण प्राणिमात्र मेरेही स्वरूप में हैं, परंतु उनमें निवास करनेवाली ' चैतन्य-शक्ति ' यही मेरी विशेष-विभूति जानना। एक छोटे से छोटे डेले से लेकर बडे बडे पर्वतों तक सब मेरे ही स्वरूप में हैं, उनमें से ' हिमालय ' पर्वत यह मेरी विभूति है। अखिल ब्रम्हाण्ड के छोटे बडे सब जलाशय मेरे स्वरूप

में हैं, परंतु उनमें 'महासागर' यह मेरी विशेष-विभूती है। मुख में से निकलनेवाले सब तरहके शब्द मेरेही में हैं, परंतु ॐ (ओंकार) स्वरूप एकाक्षरकोही मेरी विशेष-विभूती समझना। तृण से लगाकर छोटे बडे सब वृक्ष मेरेही स्वरूप में हैं, परन्तु 'अश्वत्थवृक्ष' यह मेरी विभूति है। कुत्ते, बिल्ली, व्याघ्र आदि सर्व पशु मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु 'सिंह' मेरी विभूति है। मशक से लगाकर गरुड तक सब पक्षी मेरे ही स्वरूप में हैं, तथापि 'गरुड' यही मेरी विशेष-विभूति है। शस्त्र धारण करने वाले सब पुरुष मेरे स्वरूप में हैं, परन्तु 'राम' यही शस्त्र-धारियों में मेरी विशेष-विभूति है। सम्पूर्ण जलचर मेरे ही में हैं, परन्तु 'मगर' यह मेरी विभूति है। छोटे से छोटे नाले से लगाकर सब बडे-बडे जल-प्रवाह मेरे ही में हैं, परन्तु 'भागीरथी' मेरी विशेष-विभूति है ऐसा निश्चय करके जानना। सम्पूर्ण विद्या मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु उनमें 'अध्यात्मविद्या' (दिव्यदृष्टीही) मेरी विशेष-विभूति है। सर्व अक्षर मेरेही में हैं, परन्तु उनमेंका 'अ' कार यही मेरी विभूति है। सर्वहर ऐसा 'मृत्यु' में ही हूं। सर्व स्त्रीवर्ग मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु उनमें कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धृति या शान्ति ये मेरी विशेष-विभूतियां हैं। सर्व छंद मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु 'गायत्री-छंद' यह मेरी विभूति है। बारह मास व छः ऋतु मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु उनमें अनुक्रम से मार्गशीर्ष महिना और 'वसंत-ऋतु' ये मेरी विभूतियां हैं। छल करने वाले सर्व पदार्थ मुझहीं में हैं, और उनमें 'द्यूत' यह मेरी विभूति है। सर्व तेजस्वी पुरुषों में वास करने वाला 'तेज' भी मेरा ही स्वरूप है, और 'जय'

भी मैं ही हूं। हे अर्जुन ! व्यवसायी पुरुषों का 'व्यवसाय' मैं हूं; और वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए सर्व पुरुषों में मेरा ही स्वरूप है, तथापि उनमें यह शरीर (कृष्ण) विशेष-विभूति है । उसी प्रकार सब पांडवों में भी मैं ही हूं, तथापि उनमें तुम 'अर्जुन' मेरी विशेष-विभूति हो। सर्व मुनीश्वर व कवीश्वर मेरे ही स्वरूप में हैं, परन्तु उनमें अनुक्रम से 'व्यास' महामुनि और 'उशना' कवि (शुक्राचार्य) ये मेरी विशेष-विभूतियां हैं यह जानना. ज्ञानी-पुरुषों में वास करने वाला 'ज्ञान' भी मैं हूं "—गीता १०.२१-३९]

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्में का अपना विभूति विस्तार वर्णन करते हुए भगवान्ने अन्तमें यह सिद्धांत कथन किया कि—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

—गीता १०.४०-४२

[**अर्थः**—"हे परंतप! मेरे दिव्य विभूतियों का अंत नहीं है। मैंने यह जो वर्णन किया वह विराटस्वरूपस्थित विभूतियों की केवल दिशा ध्यान में आने के उद्देश से किया है; वास्तव में, जो जो वस्तु ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त, अथवा किसीभी प्रकार के प्रभाव से युक्त हो

वह मेरे तेज के अंश से ही निर्माण हुई है। अथवा हे अर्जुन! अधिक झगडे में पडने से क्या प्रयोजन! तुम इतनाही निश्चय करो कि, यह सम्पूर्ण जगत् मैंने अपने एक अंशसे ही धारण किया है। "]

यहां ' एक अंश से ' इस शब्द का स्पष्ट अर्थ निम्न उदाहरणों में ध्यान में आवेगा। यदि विश्व शक्कररूप है यह मान लिया जाय, तो सम्पूर्ण शक्कर में एक कण की मिठास का स्वरूप और सब शक्कर की मिठास का स्वरूप जिस तरह एकही है, उसी तरह ' एक अंश ' का अर्थ सर्व विश्वमात्र (द्रष्यमात्र) का आत्मा और एक व्यक्ति का आत्मा इनका स्वरूप एकही है। अर्थात् सर्व विश्वमें परमात्मा एकतत्व से स्थित है, यह एकांश का अर्थ होता है। इतना स्पष्ट करके कहनेपर भी अर्जुन को श्रीकृष्णजीके भाषणका बोध नहीं हुआ, इसलिये वह कहने लगे कि:—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥
एवमेतत् यथात्थत्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

—गीता ११.१-४

[**अर्थः**—" हे भगवन्! मुझपर अनुग्रह करने के हेतु आपने जो परमगुह्य ज्ञान का उपदेश किया है, उसके श्रवण से मुझे पहिले जो मोह उत्पन्न हुआ था वह नष्ट हो गया। हे कमलपत्राक्ष! चराचर

की उत्पत्ति और विनाश दोनों आपही से होते हैं, यह मैंने विस्तार-सहित आपके मुख से श्रवण किया. आपके वैभव का पार नहीं, आप अविकारी हैं, आपका अव्यय महात्म्य भी मैने **श्रवण** किया. हे परमेश्वर! हे पुरुषोत्तम! आपने यह जो अपना रूप वर्णन किया उस प्रकार का आपका ऐश्वर्ययुक्त रूप इन नेत्रोंसे देखूं ऐसी मुझे इच्छा उत्पन्न हुई है। हे योगेश्वर प्रभो! आपका उस प्रकार का रूप मैं देख सकता हूं इस तरह यदि आपको मालूम होता हो, तो आप मुझे उस अव्यय ईश्वरी-रूप एवं अक्षर-ब्रह्म का दर्शन करावें।"

यह श्रवण करके द्विभुजधारी भगवान् बोलेः—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यत् द्रष्टुमिच्छसि॥

—गीता ११.५-७

[**अर्थः**—हे पार्थ! मेरे सैकडों और हजारों रूप तूं देख। ये भिन्न-भिन्न प्रकार के, प्रकाशमान्, अनेक वर्णों के और अनेक आकृति के हैं। हे भारत! आदित्य देख, वसू देख, रुद्र तथा अश्विनी-कुमार देख, मरुद्गण देख और जो आजतक नहीं देखे होंगे वे अनेक आश्चर्य भी देखले। हे गुडाकेश! चराचरसहित यह सम्पूर्ण विश्व और जो

कुछभी तुझे देखने की लालसा हो, वह सब यहां मेरे (पुरुषोत्तम के) शरीर में तू देख*]

यह कहकर भगवान् ने अर्जुन की ओर ध्यान दिया, तो उसे साढ़े तीन हातवाले परिवर्तनशील विभूतिरूपी अपने (कृष्णके) शरीर

---

* अर्जुनका प्रश्न—'**दर्शयात्मानमव्ययम्**'—अर्थात् **अव्यय आत्मा का मुझे दर्शन करावें,** यह स्पष्टतया सरल रहते हुएभी, श्रीकृष्णजी उसे—'पश्य मे पार्थ रूपाणि०'—**मेरे यह सहस्रशः रूप देख,** यह उत्तर देरहे हैं, उसका यथार्थ व वास्तविक हेतु क्या है, और उससे पूर्वोत्तर प्रश्न-सम्बन्ध किसतरह जुडता है, इसका स्पष्टीकरण गीताके किसीभी टीकाकारने नहीं किया है. कदाचित् उन्हें इस प्रश्नका महत्वभी मालूम न हुआ हो. परंतु, वास्तविक बात यह है कि यह रहस्य विना दिव्यचक्षु के समझमें नहीं आकसता. क्यों कि, उसी तत्वके अनुसार अर्जुनके प्रश्न का उत्तर भगवान्ने दिया है, जिसमें श्रीगुरुभाव धारण करके शिष्यको रहस्याविष्करण किया गया है. श्रीगुरुमें व्यय तथा अव्यय शब्द न होनेसे, उसके सापेक्ष तथा एकदेशीय अव्यय-तत्वकेही सम्बन्धमें प्रश्न कियाजानेपर, भगवान्ने उस सापेक्ष-निरपेक्ष रहित, सर्वरूप तथा सार्वदेशीय और **व्यया-व्ययातीत पुरुषोत्तमभाव** की भूमिकाकी दृष्टीसे यथार्थ उत्तर प्रदान किया है, जिसमें निर्गुण 'अव्यय' तत्वके साथही सापेक्षता व **एकदेशीय-**तासे युक्त '**व्यय**'-तत्वका लोप होजाता है. ['सर्वांगयोग' अ० ६ श्लोक ५-७ देखना]. गीतोपनिषदमें सिद्धांतका मण्डन किस तत्वको अग्रसर करते हुए, किसभांति किया गया है, इसकी स्पष्ट कल्पना उपरोक्त विषय-रचना-प्रणालीसे ध्यानमें आसकेगी. जिस सात्विक दृष्टीसे द्विभुजी श्रीकृष्णजी '**मैं** परमात्मा हूं' '**मेरी** योनी महत्ब्रह्म है' '**मेरेमें मैं वासुदेव** विभूति हूं' इ. विधान गीतामें इसके पहले कर रहे थे, वही क्षराक्षरात्मक पुरुषोत्तमरूप देह पूर्वोत्तर-संदर्भके अनुसार यहांपरभी अभिप्रेत है, द्विभुजी श्रीकृष्णजीका पांचभौतिक तथा मर्त्य देह नहीं [गीता. ७.५; १५.१८ देखना]—**संपादक.**

की ओर देखता हुआ पाया! इस कारण भक्त-वत्सल भगवान् ने विचार किया कि, अनुभव दिये विना केवल शब्दज्ञान द्वारा सत्यस्वरूप इसके ध्यान में कदापि नहीं आवेगा, और न यह जड-चैतन्य की ग्रंथि से मुक्त भी होगा। इसलिये द्विभुजी भगवान् फिर कहने लगे कि—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
—गीता ११.८

[**अर्थः**—"हे अर्जुन! इस अपनी स्थूल-दृष्टि से तू मुझे नहीं देख सकेगा, अतः मैं तुझे 'दिव्यचक्षु' देता हूं, उसके द्वारा तू मेरा ईश्वरीयोग (क्षराक्षर के संयुक्त स्वरूप) का वैभव देख."]

भगवान् ने जो 'दिव्यचक्षु' अर्जुन को दिये थे, उनकी प्राप्ती हुए विना हम भी वैसा विश्वरूप नहीं देख सकते। दिव्यचक्षु क्या हैं, और किस प्रकार अर्जुन को दिये गये थे, यह बात धृतराष्ट्रने न पूछने के कारण, उन्हें संजयने भी कथन नहीं की; क्यों कि प्रश्न उत्पन्न होने पर कहना यह बात शास्त्र के अनुसार है, और जो हुवा वह चातुर्वर्ण्य की सनातन दृष्टिसे भी योग्य था. क्यों कि क्षत्रियों को केवल ब्राह्मण वा क्षत्रिय यह दो वर्णही 'उपदेश' दे सकते हैं। संजय न ब्राह्मण था, और न क्षत्रिय; अतः उसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेका अधिकार शास्त्र-दृष्टीसे नहीं था. अस्तु।

भगवान् ने यह दिव्यचक्षु शब्दभेद द्वारा गीताजी में सर्वत्र दिये हैं, परंतु "यही दिव्यचक्षु हैं" ऐसा उस स्थान में स्पष्ट रीति से नहीं कहा है. इस कारण भ्रमग्रस्त लोग अधिक झमेले में पडकर परमात्मा

को विश्व से भिन्न देखने का प्रयत्न करके, औरोंसे भी वही करा रहे हैं। इसका यह विपरीत परिणाम हुआ है कि, वेद में कहे हुए पुरुष-सूक्त के सत्य अर्थ को लोग भूलने लग गये; और स्वभाव-नियत सहज वर्ण-धर्म का त्याग करके, परमेश्वर को देखने के लिये, अपने ही मनसे अनेक मत और पंथ निर्माण करके:—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

यह परम-वाक्य भूल गये, जिससे आत्मघात के अधिकारी बन गये. परन्तु जैसा रूप अर्जुन ने देखा, वैसेही रूपका दर्शन होकर "अनन्य-भक्त" होने के लिये "दिव्यदृष्टि" यही एकमात्र साधन है; पातंजल-योग, याग, वेदान्त-ग्रन्थाध्ययन, इत्यादि साधन नहीं, यह सिद्धांत स्वयं भगवान्‌नेही इसी अध्यायमें स्पष्टतया कथन कर रखा है, जिसका स्पष्टीकरण भी आगे दिया गया है. [गी. ११.५३-५५ देखना] इससे अधिक इतनाही कहना पर्याप्त है कि, लोगों को जो स्व-स्वरूप-भ्रम हुआ है, वह मिटाने के लिये श्रीगुरु की इच्छानुसार वही दिव्यचक्षु यहां यथावत् दिये हैं, चित्त पूर्णरीतिसे एकाग्र करके देखना।

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिविद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्॥

—मनुस्मृति, ११.२६५

इस वेद-वाक्य का मर्म श्रीभगवान् समझाने लगेः—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

[**अर्थः**—"इस जगत् में क्षर (परिवर्तनशील) और अक्षर (अविनाशी) यह दो पुरुष हैं। सब चराचर अर्थात् बदलनेवाला जो

जडभाव, उसे '**क्षरपुरुष**' यह संज्ञा है—इसमें दिखना, आभास होना अर्थात् बदलता हुआ दिखना इत्यादि सब प्रकार अंतर्भूत हैं; और दूसरा कूटस्थ है, अर्थात् क्षरपुरुष में एकरस ठोस भरा हुआ स्थिर चैतन्य है, उसे '**अक्षरपुरुष**' कहते हैं."]

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

—गीता १५.१७

[**अर्थः**—"'**उत्तम पुरुष**' संज्ञक भाव इन दोनों से परे है. उसीको परमात्मा कहते हैं, वही अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ है। उसीने त्रैलोक्य अर्थात् क्षर, अक्षर और उत्तम-पुरुष (अथवा स्वर्ग, मृत्यु, पाताल) में स्थिर रहकर उसको धारण किया है"]

यही 'पुरुषोत्तमपद' मन में विचारकर श्रीकृष्ण भगवान् बोलेः—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

—गीता १५.१८

[**अर्थः**—"जब कि मैं **क्षर पुरुष** से परे (बदलने वाले जडभाव से रहित) हूं—कारण **अक्षर पुरुष** बीच में है—और अक्षरसे भी उत्तम हूं (कारण कि अक्षरके ऊपर दृष्य भासमान होता है, वह उत्तम-पुरुष में नहीं होता), इस लिये वेदानुभव में और लोगोंमें भी मुझे **पुरुषोत्तम** कहा है"]

जो तीव्र अधिकारी हों, उन्हें विश्वरूप देखने के लिये ऊपर किया हुआ वर्णन पर्याप्त है. परंतु इतने वर्णन से मंद अधिकारियों

की समझ में विश्वरूपका सिद्धांत नहीं आसकता और न उन्हें विश्व-रूप दर्शन भी होसकता है. इसलिये उनको भी अनुभव ग्रहण करने में कठिणता न मालूम हो इससे अधिक स्पष्टीकरण करना इष्ट है।

प्रथमतः एक कटोरी में बताशा अथवा मिश्री भरकर, अपने सन्मुख रखलेनी चाहिये. यदि मिश्री प्रत्यक्ष सन्मुख न रखी जाय, एवं प्रत्यक्ष वस्तु न देखी जाय, तो अनुभव का सूक्ष्म भेद अच्छी तरह समझ में नहीं आसकता. इसी कारणसे पूजन करते समय "शर्करा-खंडखाद्यानि" इस मंत्रद्वारा वेद और पुराणों ने सबों को नित्यप्रति अनुभव का मार्ग दर्शित करा दिया है। परंतु, उसको लौकिक व्यवहार समझते हुए, उसके हेतु की ओर अज्ञानी लोग ध्यान भी नहीं देते! कारण —

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

— गीता ४.२

इस ईश्वरी-नियम का उल्लंघन कैसे हो !! अस्तु।

"शर्कराखंडखाद्यानि" यह मंत्र कहकर, भगवान् को भोग समर्पण करके, अनंतर दिव्यदृष्टी को ग्रहण करना. वह इस प्रकार है. स्थूल दृष्टि से दिखनेवाला बताशों का जो दृष्यरूप है, वह '**क्षरपुरुष**' जानना—इसमें तृणसे ब्रह्मातक दृष्य वस्तुमात्रके समान पांच तत्वों के शब्द, स्पर्श, रूप रस, व गंध यह पांचभौतिक-गुण और सत्व, रज व तम यह तीन प्रकृति-गुण भी हैं. अपने नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष जो जो वस्तुएँ हैं, उन सबमें इसीका योग-प्रयोग करके उसे ध्यान में दृढ रखना।

यह सभी भाव परिवर्तनशील, चल अथवा बदलनेवाले हैं; इसीको 'अपरा' प्रकृति भी कहते हैं। कारण 'यद्दृष्टं तन्नष्टं' यह वेद-वाक्य इसको प्रमाणभूत है। अब शक्कर के इस भासमान होनेवाले दृश्य स्वरूप में गुप्तभाव से रहनेवाली जो मिठास (स्थिर चैतन्य) है, वही "**अक्षर-पुरुष**" है। शक्कर के रवे मिट सकते हैं, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस* तथा गंध भी बदल जावेंगे; परंतु भीतर की जो मिठास (प्रियत्व) है, वह न मिटती है और न दिखती है। क्यों कि, मिठास को मिठास नहीं देख सकती. वह मिठास स्थूल दृष्टि से दिख भी नहीं सकती, किंतु केवल विवेकही से ज्ञात हो सकती है। यही 'परा' प्रकृति है; और इसेही 'जीवभूता' प्रकृति ऐसा सातवे अध्याय में कहा है [गी० ७.४-५]

दूसरे अध्याय में "नैनं छिन्दंति शस्त्राणि" इत्यादि जो वाक्य हैं, वे इसी अक्षर-भाव को बतलाते हैं। पांचभौतिक शरीर नष्ट हो सकता है, परंतु अंतस्थ आत्मा अनश्वर है, जो नष्ट नहीं होता, इस विषयमें यह प्रमाण है—

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवम् मध्य अपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥

—ऋग्वेद १.२२.१६४.३०

---

* रस, रुचि या सवाद (स्वाद) यह परस्पर पर्याय शब्द हैं; और इनका '**अधिष्ठान**' प्रियत्व एवं 'मिठास' है. रुचि और मिठास में बहुत बडा अंतर है यह ध्यानमें रखना चाहिये. कुछ लोगों के ध्यानमें रुचि अथवा प्रियत्व में जो सूक्ष्म भेद है वह एकाएक ध्यानमें नहीं आता—**संपादक**

[**अर्थः**—"श्वासोच्छ्वास करनेवाली, चंचल और जीविता-वस्था से हलचल करनेवाली जो वस्तु है, वह इस (शरीररूपी) घट में अचल स्थित है। जीवात्मा मृत अर्थात् जड वस्तु के नियमानुसार ही चलता है; और मृत (जड) देह [क्षरभाव] तथा अमर आत्मा [अक्षरभाव] एकही स्थान [पुरुषोत्तमभाव] में रहते हैं।"]

गीतामें भी इसीतरह वर्णन करते हुए, यह स्पष्टोक्तीके साथ कहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यं तं यः पश्यति स पश्यति॥

—गीता १३.२८

[**अर्थः**—" परमेश्वर (पुरुषोत्तम) सर्व भूतमात्र (क्षर) में समत्व (अक्षररूप) से निवास करता है। भूतों के (जड के) नाश से परमेश्वर का नाश नहीं होता, ऐसा जो निश्चय करके जानता है, वही ज्ञानवान् है"]

अब भासमान होनेवाला रूप (क्षर-भाव) और मिठास (अक्षर-भाव) यह दोनों जिसमें स्थित हैं, वह उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम भाव) है. कारण 'शक्कर' कहते ही उसमें मिठास और स्वरूप यह दोनों भाव आते हैं—केवल मिठास शक्कर नहीं हो सकती, अथवा केवल स्वरूपही को शक्कर नहीं कह सकते; शक्कर में तीनों भाव स्थित हैं, अर्थात् यह तीनों भाव वस्तुतः एकही हैं। कारण, एक कहते ही उसके वास्तविक स्वरूप का ध्यान होने के लिये दो और तीन इन अंकों की आवश्यकता होती है। सूक्ष्मावलोकन से एक

में तीनोंका भी बीजरूप से समावेश हो जाता है, केवल वस्तु का स्वरूप ध्यान में आने के लिये यह तीनों भाव एक-वस्तु में कल्पित हैं, सत्य नहीं हैं. परन्तु वास्तव में तीनों एक हैं. उदाहरण के लिये कुछ त्रिपुटी और उपनिषदमंत्र देखिये:—

अल्प त्रिपुटियें।

यह सब भाव एकहि तत्व पर कल्पित किये हैं।*

रूप	मिठास	शक्कर
क्षर	अक्षर	पुरुषोत्तम
ध्याता	ध्यान	ध्येय
विराट्	हिरण्यगर्भ	अव्याकृत
दृष्य	दर्शन	द्रष्टा
अधिभूत	अधिदैव	अधियज्ञ
व्यष्टि	समष्टि	परमात्मा
प्रकृति	पुरुष	परम-पुरुष
व्यक्त	अव्यक्त	परम-पुरुष
शक्ति	शिव	परमात्मा
कार्य	कारण	महाकारण
क्षेत्र	ज्ञान	ज्ञेय
आनंद	चित्	सत्
अज्ञान	ज्ञान	विज्ञान

* 'गीतोपनिषद्' नक्शा नं. १ 'ज्ञानवृक्ष' देखना.

सिया	राम	नाम
तत्	त्वं	असि

उपनिषदोंके कुछ प्रमाण।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् (शांतिमंत्र)

[**अर्थ:**—"वह (निर्गुण, अक्षर ब्रह्म) पूर्ण है, यह (क्षर, दृष्य विश्व) पूर्ण है। पूर्ण (अक्षर) से ही पूर्ण (क्षर) का उदय होता है; और पूर्णमें से पूर्ण निकाल लिया जाय, तो शेषभी पूर्णही (पुरुषोत्तम) रहता है।"

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

—ईशावास्योपनिषद ५-७

[**अर्थ:**—वह (ब्रह्म, वस्तु) कंपयुक्त होकर भी अकंपनीय है; वह दूर तथा समीप भी है; विश्वान्तर्गत रहकर विश्व का बाह्यावरण भी वही है। यच्चयावत् वस्तुओं को जो आत्मस्वरूप में और आत्म-स्वरूप को सर्व वस्तुमात्र में देखता है, उसे कदापि मोह प्राप्त नहीं होता। जिसको सब वस्तुओं में आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है

ऐसी समदृष्टि से देखनेवाले विद्वान को शोक कैसे होवे ? और मोह भी किसप्रकार होगा ?]

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा
इमानि च पंचमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश
आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव ।
बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च
स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा
हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च ॥
यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।
प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥

—ऐतरेयोपनिषद ३.३

[**अर्थः**—यही प्रज्ञारूप आत्मा ब्रह्म है। यही इंद्र, यही प्रजापति और यही सर्व देव है। यही आत्मा पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश ऐसा पंच महाभूतरूपी है। यही आत्मा क्षुद्र (छोटे) बीज है, यही अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज है। गौ, अश्व, गज, पुरुष इत्यादि जो कुछ प्राणयुक्त, जंगम व पंखयुक्त है, जो जो कुछ स्थावर है, वह संपूर्ण प्रज्ञानेत्र है। यह प्रज्ञानरूप ब्रह्म में स्थित है। सब नेत्र प्रज्ञानेत्र हैं, प्रज्ञा यही सबों का आधारस्थान है, अतएव प्रज्ञा यही ब्रह्म है।]

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संप्रश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येव हेतुना ॥

—कैवल्योपनिषद १०

[**अर्थः**—"अपने को सर्व भूतमात्रमें और भूतमात्र को अपने में तत्वतः देखनेवालेको ही ब्रह्मभाव प्राप्त होता है। ब्रह्मभाव (पद) प्राप्ती के लिये इस दृष्टी के अतिरिक्त दूसरा अन्य साधन नहीं है।]

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
—कठोपनिषद १.२.१६

[**अर्थः**—"यही अक्षर ब्रह्म है, यही अक्षर परम है। इसी शाश्वत ब्रह्म को पहिचानने से जिसे जिसकी (जिस यथार्थ वस्तु की सत्) इच्छा हो, उसीकी उसको प्राप्ति होती है।"]

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव,
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यंति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
—कठोपनिषद २.५.९-१२

[**भावार्थः**—"जिस प्रकार एकही अग्नि प्रत्येक वस्तु के संबंध से अलग अलग रूप धारण करता है, उसी प्रकार भूतमात्र का अन्तरात्मा तत्वतः एकही रहता हुवा, विविध भूतो में विविध रूप धारण करता है। एकही वायु प्रत्येक वस्तु के संबंध से विविध प्रकार के रूप धारण करता है, उसी तरह भूतमात्र का अंतरात्मा तत्वतः एकही होता हुवा, विविध वस्तुओं में (भूतों में) विविध रूप धारण करता है। जिस प्रकार सूर्य (सूरज) बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी तरह सब भूतमात्र का अंतर्यामी रहनेवाला यह आत्मा

जीवों के सुख-दुःख से लिप्त नहीं होता। जो एक, संपूर्ण ब्रह्मांड का स्वामी, अंतरात्मा, और जो अपना एकहीरूप अनेक प्रकार से दर्शित करता है, ऐसे परमेश्वर को जो ज्ञानी (स्त्री—) पुरुष अपने शरीर में स्थित (सदैव वास करता हुआ) साक्षात् देखते हैं, उन्हीं (स्त्री—) पुरुषों को शाश्वत सुख का लाभ होता है, औरों को नहीं।"]

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः॥

—मैत्रेय्युपनिषद २.१-२

[भावार्थः—" देह यही देवालय है और उसमें रहनेवाला जीव केवल शिव (परमात्मा-अक्षर) है। अज्ञानरूप निर्माल्य निकाल कर उस परमात्मा का सोऽहं भावना से ('वह परमात्मा मैं हूं' इस निश्चित भावना से) पूजन करना चाहिये। परमेश्वर को सर्वत्र अभेदरूप से देखना यही 'ज्ञान' और मन को निर्विषय (विषयों से रहित) करना यही (उस परमात्मा का) 'ध्यान' है।"]

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु।
संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः॥

—मैत्रेय्युपनिषद २.१७

[भावार्थः—"कर्म का त्याग करने से अथवा प्रेषोच्चार करने से संन्यास नहीं होता। जीव और आत्मा इन दोनों की संधी में (ग्रंथी में) जो ऐक्यभाव (एकरूपता) है, उसको (अनुभव से) जानना यही ' संन्यास ' है "]

ॐ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

—मुंडकोपनिषद २.२.११

[**भावार्थ**:—"यह अमृतरूप ब्रह्म ही आगे, पीछे, दाहिनी-बाई ओर, नींचे, ऊपर सर्वत्र व्याप्त है। यह ब्रह्मही संपूर्ण विश्व है। सब में श्रेष्ठतम केवल यह ब्रह्मही है।"]

ॐ इत्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यान-
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव ।
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।
सर्वं ह्येतत् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ॥

—मांडूक्योपनिषद १-२

[**भावार्थ**:—"यह सबकुछ अक्षररूप है; भूत, वर्तमान व भविश्य सर्व अक्षररूपही है। त्रिकालातीत औरभी जो जो कुछ है, वह संपूर्ण अक्षररूप है। यह सब ब्रह्म है; यह आत्मा भी ब्रह्म ही है"]

ऊपर दिये हुवे उपनिषद्वाक्यों से हमारे कहने की सत्यता वाचकों के ध्यान में अब पूर्णता से आजायगी।

अब ऊपर कहे हुवे क्षर, अक्षर व पुरुषोत्तम यह तीनों भाव ध्यान में रखकर, अनंतर विश्वरूप अर्थात् 'विश्वं विष्णुः' देखना एवं विचार करना चाहिये। यही दिव्यदृष्टि श्रीकृष्णजीने अर्जुन को दी और अर्जुनने **विचारद्वारा** अपने सद्गुरु जो श्रीकृष्ण भगवान, उनके पुरुषोत्तम रूपी शरीर में (अर्थात् विश्वव्यापी पुरुषोत्तम में) अखिल विश्व (विश्वरूप) देखा। अब उसी प्रकार विचारद्वारा हमभी देखें।

संजय ने कहा:—

एवमुक्त्वा ततो राजन् ! महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

—गीता ९-११

["तू इस स्थूल दृष्टिसे पुरुषोत्तमका (परमात्माका) सत्यस्वरूप देखने को असमर्थ है, इस लिये मैं तुझको 'दिव्यचक्षु' देता हूं, उसके द्वारा हे अर्जुन, तू मेरा 'ईश्वरीयोग' अर्थात् क्षराक्षर के संयुक्त स्वरूप का वैभव देख"]

हे धृतराष्ट्र ! श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को इस प्रकार कहकर, उपरोक्त निवेदन की हुई दिव्यदृष्टि दी, और पार्थ को अपना परमश्रेष्ठ ईश्वरीस्वरूप इस तरह बतलाया:—

अनेक वक्तृनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥

—गीता ११.१०-११

[**अर्थ**:—"द्विभुजी श्रीकृष्ण-शरीर ने अर्जुन को दर्शित किये हुवे परमात्माके उस रूप में सब प्रकार के अनेक मुख थे, अनेक नेत्र थे, उसमें अनेक अद्भुत दर्शनीय प्रकार थे, उसपर अनेक प्रकार के दिव्य अलंकार शोभा देते थे, अनेक प्रकारके उद्यत दिव्य आयुध उसमें चमक रहे थे, तथा उसमें अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्र शोभा देते थे, और अनेक प्रकार के दिव्य गंधों का उबटन् उस शरीर पर

लगा हुवा था। अर्जुनने इस प्रकार सब आश्चर्यों से युक्त भगवान् को विश्वतोमुख और अनंत देखा।"]

सब जगत् में अनेक प्रकार के अनेक मुख, अनेक हाथ, अनेक नेत्र, अनेक दर्शनीय प्रकार अनेक प्रकार, के अलंकार, अनेक प्रकार के पुष्प, अनेक प्रकार के सुगंधित पदार्थ, तथा वस्त्र, किसपर दिख रहे हैं? वह उसी **पुरुषोत्तम प्रभुके क्षराक्षरात्मक** (जड चैतन्यामक) शरीर ही पर दिख रहे हैं। कारण कि **क्षर** यह वास्तविक रूपसे **अक्षर**-आत्माकाही दृष्यरूप है, यह पहिलेही सिद्ध किया गया है. क्षर स्वरूप में भासमान् होनेवाले विविध भाँति के **सर्वाश्चर्यमय दृष्य ये वास्तवरूपमें आत्मरूपमेंही भासमान होते हुए अक्षर आत्मरूपही है,** यह सिद्ध होता है. सब जगत् में शक्कर ही भरी हुई है, यह निश्चय करके रवे के स्थान में आपसहित सर्व यच्चयावत् प्राणि हैं यह मानकर, **मनोगति** को सूक्ष्म करके देखना, तत्काल ध्यान में आजायगा कि, जिसके सर्वत्र मुख हैं और जिसका अंत नहीं, ऐसा सर्वाश्चर्यमय क्षराक्षरात्मक यही विश्वरूप पुरुषोत्तम, जिसे सब अज्ञान जगतदृष्टीसे देखते हैं, अर्जुनने विज्ञानदृष्टीसे देखा था; उसने श्रीकृष्णजीके मुखमें 'विश्वरूप' नहीं देखा था, अथवा द्विभुजी श्रीकृष्णजीका शरीर बढाहुआ भी नहीं देखा था।

द्विभुजी श्रीकृष्णजीने अर्जुनको 'पुरुषोत्तम'रूपी देह में विश्वरूप दर्शन करातेही उसे उसका स्वरूप कैसे गोचर हुआ इसका वर्णन **संजय** करता है :—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

—गीता ११.१२

[**अर्थः**—" अंतरिक्ष में सहस्र सूर्यों का प्रकाश यदि एकहि समय प्रगट होवे, तो कदाचित् वह प्रकाश महात्मा पुरुषोत्तम के प्रकाश का कुछ स्वरूप ध्यान में आने के लिये काम आवे; क्यों कि सब प्रकाश को प्रकाशित करने वाला वह प्रकाश है ।"]

गीतामेंभी आगे इसी तरह वर्णन किया है:—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥

—गीता १५.६

[**अर्थः**—"जिस प्रकाश को प्रकाशित करने के लिये सूर्य, चंद्र, तारकागण, अग्नि, इनमें किसीकी भी शक्ति व आवश्यकता नहीं है, और, हे अर्जुन, जहां पहुंची हुई दृष्टि फिर निकल नहीं सकती, वह मेरा परम पद है।"]

'विश्वरूप' देखकर अर्जुन में किस भावका उदय हुआ इसका वर्णन करते हुए **संजय** कहता है :—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥

—गीता ११.१३-१४

[**अर्थः**—"देवाधिदेव के उस शरीर में (पुरुषोत्तमभाव में) सब जगत् एकत्रित अर्थात् एकरूप और फिर उसमें (क्षर व अक्षर भाव में) अनेक विभाग अर्थात् भिन्न-भिन्न भाव प्रतीत या भासमान होते हैं, यह उस समय अर्जुन ने देखा। तब भ्रम नष्ट होजाने से, पुरुषोत्तम प्रभु का स्वरूप देखकर, धनंजय आश्चर्य से चकित होगया; अष्ट सात्विक-भाव प्रगट होनेसे, शरीर पर रोमराजी खड़ी हुई। फिर (पहली मन्द जीव-कल्पना नष्ट होकर भ्रम का नाश होजाने से), अर्जुन मस्तक झुका कर, नमस्कार करके, हाथ जोड़कर, **सर्वव्यापी पुरुषोत्तम** से कहने लगा।"]

'विश्वं विष्णुः' यह परमात्मा का रूप सर्वव्यापी होने से उसमें इन्द्रलोक, भूलोक, मृत्युलोक, पाताल्लोक इत्यादि सभी अंतर्भूत हैं, एवं यह सभी क्षरस्वरूपी हैं, यह सोचते हुए अर्जुन कहता है :—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं, ऋषींश्च, सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं, पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥

—गीता ११.१५-१६.

[**अर्थः**—"हे देव! आपके शरीर में मुझे सब देव दिख रहे हैं। (यह वर्णन इंद्रलोक का है), अनेक प्रकार के प्राणियों के समूह

दिख रहे हैं (यह वर्णन भूलोक एवं मृत्युलोक का है)। कमलासनपर बैठे हुए देवाधिदेव ब्रह्माजी और ऋषिगण दिख रहे हैं (यह वर्णन ब्रह्मलोक का है), तथा दिव्यसर्प भी दिख रहे हैं (यह वर्णन पाताल लोक का है). हे विश्वेश्वर! आपको अनेक बाहु, अनेक पेट, अनेक मुख, और अनेक नेत्र हैं। आपका रूप अनंत है, आपका अन्त नहीं दिखता, और न आदि भी दिखता है, सब विश्व में आपही का रूप दिख रहा है।"]

उपरोक्त सब वर्णन उस-उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक वर्णन की ओर ध्यान देते हुए **व्यासजी** ने अर्जुन के **मुखमें गीता-ग्रंथ** में डाला है; और उससे यह सूचित किया है कि, अष्टधा-प्रकृतिरूप **क्षर** विश्व में **अक्षर**-तत्वही अंतर्बाह्य तथा ओत-प्रोत भरा हुआ है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥
—गीता ११.१७.

[**अर्थ** :— " माथे पर मुकुट धारण किये हुए, हाथों में गदा और चक्र लिये हुए, आप तेज की खान हो, सर्वत्र आप ही का प्रकाश फैल रहा है। यह अग्नि और सूर्य के प्रकाशके समान सर्वत्र फैली हुई आपकी दीप्त प्रभा देखकर मेरी दृष्टि स्थिर नहीं रहती; इस कारण, आपका स्वरूप वास्तवरूप में कैसा है, यह नहीं जाना जाता।"]

इस श्लोकके पूर्वार्धमें किया हुआ वर्णन अर्जुनके विश्वरूप स्थित सत्वगुणात्मक विष्णुरूपी चतुर्भुजी इष्ट-विभूतिका है, द्विभुजी कृष्णका नहीं. इसेही—'आदित्यानामहं विष्णुः'—इस प्रकार पहले कहा गया है। इस प्रकार सप्त ऊर्ध्वलोक (स्वर्गलोक), मृत्युलोक तथा सप्त अधोलोक (पाताल्लोक) यह '**क्षर**' स्वरूप हैं ऐसा वर्णन कर, अब व्यासजी अर्जुन के मुख द्वारा '**अक्षर**' रूपको विशद करते हुए, उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
—गीता ११.१८

[**अर्थः**—"हे प्रभो! जानने योग्य ऐसा जो परम 'अक्षर' (पुरुषोत्तम) संज्ञक ब्रह्म वह आप ही हो। आप इस विश्व के परम-आधार, आप अव्यय तथा शाश्वत धर्म के रक्षक हैं; और आप ही सनातन पुरुष हैं यह मेरा निश्चय हो चुका है"]

पुरुषोत्तम स्वरूपका महिमा वर्णन कर अर्जुन के मुखद्वारा व्यासजी फिर **क्षराक्षर** के संयुक्त स्वरूप का वर्णन करते हैं:—

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यं अनंत बाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम् स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥
—गीता ११.१९

[**अर्थः**—आप को आदि, अंत, और मध्य नहीं है. आपकी शक्ति अपार है; आप के अनंत हाथ हैं और सूर्य-चंद्र यह दोनों आप

के नेत्र है! प्रज्वलित अग्नि यह आप का मुख है, और संपूर्ण विश्व को आप अपने तेज से प्रकाशित (तप्त) कर रहे हो, इस प्रकार मुझे अब प्रतीत होरहा है।"]

'चंद्र-सूर्य' यह 'परमेश्वर' (पुरुषोत्तम) के नेत्र हैं ऐसा रूपक-भाषामें श्रुतियोंमें भी वर्णन पाया जाता है:—

अग्नि-र्मूर्द्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ।'
चंद्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥
—ऋग्वेद (पुरुषसूक्त)

[**अर्थः**—'अग्नि यह भगवान् का मस्तक और सूर्य-चन्द्र यह नेत्र हैं। परमेश्वर के अंतःकरण से चन्द्र की और चक्षू से सूर्य की उत्पत्ति हुई हैं। मुख से इन्द्र की और प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई है।']

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः
—गीता ११.२०-२१

[**अर्थः**—"हे महात्मन्! अंतरिक्ष और पृथ्वी के बीच का जो अवकाश तथा सब दिशाएँ हैं, वे अकेले आपही ने व्याप्त की हैं, आपका यह अद्भुत और उग्ररूप (कालरूपी क्षरभाव) देखकर त्रैलोक्य (सात्विक, राजस तथा तामस स्वभाव के जीव) व्यथित हो

रहा है। यह देवगणों के संघ आपके शरणागत होरहे हैं। उनमें कोई भय से (आर्तबुद्धि से) हाथ जोडकर आपकी प्रार्थना कर रहे हैं (यह वर्णन पुराणों के वर्णन को उपलक्ष्य करके किया है). महर्षि और सिद्धों के समूह 'स्वस्ति'शब्द कहकर अनेक प्रकार की स्तुतिद्वारा आपकी महिमा वर्णन करते हैं (यह वर्णन वेदमंत्रों का है)"]

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्॥
—गीता ११.२२-२३

[**अर्थः**—"हे प्रभो ! रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य (रुद्रगण) विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्-गण, पितर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, और सिद्धों के समूह आपकी महिमा देखकर, आश्चर्ययुक्त होतेहुए आपको निहार रहे हैं। हे महाबाहो ! आपका अनेक मुखों, अनेक नेत्रों, अनेक हाथों, अनेक जंगाओं, अनेक पैरों, अनेक उदरों और कराल दंष्ट्रावों से युक्त यह '**क्षरभाव**' संयुक्त विशाल स्वरूप देखकर सब लोग व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं; और उसी प्रकार मैंभी भयभीत हो गया हूं।"]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है:—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
—श्वेता० २.१६

[**अर्थ**:—उसके (परमात्मा के) हाथ और पैर सर्वत्र हैं; उसके नेत्र और मस्तक भी सर्वत्र हैं। सर्वत्र उसीके कान हैं, और ये सब लोक उसीसे व्याप्त हैं।"]

गीतामें भी इसी प्रकार का वर्णन है [गीता १३.१३ देखना]

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो॥

—गीता ११.२४

[**अर्थ**:—"हे विष्णो! आपका नभस्पर्शी, प्रकाशमान, अनेक रंगों से युक्त, अनेक फैलाए हुए मुखों तथा तेजस्वी और विशाल नेत्रों से संपन्न, रूप देखकर भयसे मुझे व्यथा उत्पन्न होनेके कारण धैर्य नहीं रहा, और शान्ति प्राप्त नहीं होती।"]

विश्वरूप के **क्षरभाव** की गति कालस्वरूपी है जिसमें वर्तमान, भूत व भविष्य स्वरूप तीनों अवस्थाएँ है—इन तीनों अवस्थाओं में विश्वस्थित जगतकी भी उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय होता रहता है, इसमें मनुष्य निमित्तमात्र है. इसी सिद्धांत का दिग्दर्शन उस समय में उपस्थित युद्ध-परिणाम की ओर संकेत करते हुए करते हैः—

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥

—गीता ११.२५-२७

[**अर्थ** :—"हे देवाधिदेव, जगन्निवास ! आपके प्रलयकाल के अग्निसमान प्रदीप्त और भयानक व कराल दंष्ट्रावाले (हिंसकजीवरूपी) मुख देखकर मुझे दिशाभूल होगई, सुख प्राप्त नहीं होता। अब किस रूप का इष्ट स्थिर करूं यह ध्यान में नहीं आता, इस लिये मुझपर कृपा करो। हे प्रभो ! धृतराष्ट्र के यह सब पुत्र और राजाओं के समुदाय, भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्ण, वैसे ही अपने पक्ष के बडे बडे योद्धा यह आपके भयंकर दंष्ट्रावाले (कालरूपी)* मुख में वेगसे घुस रहे हैं, कोई दांतों के बीच में पिस रहै हे। इस कारण उनके उत्तम शरीरों का चूर्ण बन रहा है।"]

यह वर्णन युद्ध के परिणाम की सूचना देने वाला है। उसीकी भयानकता, कालस्वरूप की भीषणता तथा मर्यादा को प्रगट करते हुए, विशद करते हैं—

यथा नदीनां बहवोऽबुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशंति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥

—गीता ११.२८-२९

[**अर्थ** :—"जिस प्रकार नदियों के विशाल प्रवाह सदैव समुद्र में मिलने के लिये शीघ्रगती से बहा करते हैं, उस प्रकार इस

---

* द्वितीय भाग में '**दिव्यदृष्टीका रहस्य**' 'गुणातीत विज्ञानी' (दोहा १९-२५) देखना—**संपादक.**

मृत्युलोक के वीर आपके इस प्रज्वलित मुखमें प्रवेश कररहे हैं—क्षर विराट की गति में चूर्ण-विचूर्ण होरहे हैं ! जैसे प्रदीप्त अग्निमें अपना नाश होने के हेतु पतंग अत्यंत वेगसे दौड जाते हैं, वैसे ही यह सब 'आब्रह्मभुवन' लोक (विश्व) नाश होने के लिये आपके मुख की कराल दाढों में तीव्र वेग से प्रवेश कर रहे हैं।"]

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंतात् लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

—गीता ११.३०-३१

[अर्थः—"हे विष्णु ! आप अपने प्रज्वलित अग्निसमान मुख में सब ओर से इन सब लोकों एवं यच्चयावत् ब्रह्माण्डों या अष्टधा-प्रकृतिस्वरूपी अखिल जगत् का ग्रास करके भी, फिर अपनी जिव्हाएँ चाट रहे हो; एक समय खाकर आप तृप्त नहीं होते, आपकी उग्र प्रभा संपूर्ण जगत् को व्याप्त करके अपने तेजसे उसे तपा रही है। मुझे कहिये कि, 'यह उग्र रूप धारण करने वाले आप कौन हैं ?' हे देवश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार करता हूं, आप कृपा करें, 'आपने यह क्या प्रारंभ किया है ?' इसे मैं नहीं जानता, इस कारण आदि-पुरुष आप को जानने की मुझे इच्छा हुई है।"]

इस प्रकार **कालरूपी क्षरभाव** की अशाश्वती देख, कल्पना-तरंग में उलझ कर, अर्जुन घबडा गया है यह देख, दयाघन

भगवान् श्रीकृष्णजी (जो अर्जुन के पास ही रथमें बैठे हुए थे) काल-गती का हेतु विशद करते हुए कहने लगे कि—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

—गीता ११.३२-३४

[अर्थः—'मैं जगत का क्षय करनेवाला काल हूं, प्राणियों का संहार करने के लिये यहां प्रवृत्त हुआ हूं । कदाचित तू अपने कर्म का त्याग करके युद्ध न करेगा, तोभी ये सब योद्धा खडे हुए तू देख रहा है, सजीव नहीं रह सकते—युद्धोन्मुख होनेसे वे परस्पर लडकर मरनेके ही हैं. इस कारण तू जागृत होकर, निज स्वकर्मयोग का अधिष्ठान रखते हुए, शत्रुओं को पराभूत कर तथा अपने समृद्ध राज्य का उपभोग ले. हे सव्यसाची अर्जुन ! मैंने इनका उत्पन्न होते ही नाश कर दिया है, तू केवल निमित्त-कारण बन. द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य योद्धाओंको भी मैंने प्रथम ही मारा हुआ है, उन्हीं को तू मार. उदास क्यों होता है ? मुझ पुरुषोत्तम का स्मरण करके अपने वर्ण का कर्म कर, रणतीर्थ में शत्रुओं को तू अवश्यही जीत लेगा ।]

संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि, द्विबाहु श्रीकृष्णजी का यह वक्तव्य सुनकर, अर्जुन का चित्त विश्वरूप की भीषण गतिसे पराङ्मुख होता हुआ श्रीकृष्णजी की ओर आकर्षित हुआः—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

—गीता ११.३५

[**अर्थः**—"इस प्रकार (अर्जुन के समीप रथमें रश्मि धारण किये बैठे हुए) द्विबाहु केशवजी का भाषण श्रवण करके, किरीटी ने कांपते कांपते हाथ जोडकर, भीतियुक्त अंतःकरण से फिर नमस्कार करके, गद्गद कंठ से द्विबाहु श्रीकृष्णजी से कहा कि—"]

'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह अंतिम अबाधित जागतिक सिद्धांत है–इसीसे दैवी तत्व के सामने आसुर तत्वको सिर झुकाना होता हैं. इसी सिद्धांत का स्वीकार करतेहुए **अर्जुन** द्विबाहु भगवान् कृष्णजी से कहता है:—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत् ॥

—गीता ११.३६-३७

[**अर्थः**—"हे हृषीकेशजी ! आपके विशेष गुणानुवाद से सब जगत आनंदित होकर आपमें प्रेममग्न होता है । इसी प्रकार राक्षसों एवं दुष्टबुद्धिमान् लोगों को भय प्राप्त होनेसे वे दशों दिशाको भागते हैं। (यह वर्णन दुराचारी, पाखण्डी एवं आसुरी-संपत्तीमान् पुरुषों के

उपलक्ष्य में किया गया है) और सब सिद्धों के समूह आपको नमस्कार करते हैं, वह योग्य ही है। हे महात्मन्! हे अनंत! हे देवाधिदेव! आप ब्रह्माजीसे भी श्रेष्ठ तथा आदि कर्ता हैं, फिर आपको वे क्यों न नमस्कार करें? हे जगन्निवास! सत् (अक्षर) और असत् (क्षर) से परे जो परम-अक्षर (पुरुषोत्तम) है, वह आप ही हैं!"]

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते॥

—गीता ११.३८-३९

[**अर्थः**—"हे अनंतरूप! आप आदिदेव, आप पुराण-पुरुष, आप इस विश्व का परम-आधार या लयस्थान, और आप ही ज्ञाता, ज्ञेय (जानने योग्य श्रेष्ठ वस्तु) व परमपद हैं, तथा यह विश्व आपही ने व्याप्त या विस्तारित किया है। वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, प्रजापति ब्रह्मा, और उनके भी पिता आप हो! आपको सहस्रशः नमस्कार हैं. इसी प्रकार पुनः पुनः आपको नमस्कार है।"]

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

—गीता ११.४०-४२

[**अर्थः**—"हे सर्वरूप ! आपकी शक्ति अनंत, आपका पराक्रम भी अतुल व अनन्त, आप सब विश्व में सम्यक् (अंतर्बाह्य अर्थात् ठोस) व्याप्त हो, इसी कारण आपको '**सर्व**' कहा है। सब दिशावों में स्थित आपको पूर्व, पश्चिम, इत्यादि सभी दिशावों में सब ओरसे नमस्कार है। हे प्रभो ! मैंने आपकी यह महिमा (विश्वरूप) न जानने के कारण अपना मित्र मानकर प्रमाद, चोहल अथवा स्नेह से आपके साथ 'हे कृष्ण,' 'हे यादव,' 'हे सखा,' इस प्रकार जो अमर्याद भाषण किया, और हे अच्युत ! खेलते समय, सोते समय, भोजन के समय, एकांत में अथवा सबों के समक्ष मैंने जो विनोद से आपका उपमर्द किया हो, उसकी, हे अप्रमेय, मुझे क्षमा करिये, यही मेरी प्रार्थना है।"]

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

—गीता ११.४३-४४

[**अर्थः**—"आप इस चराचर जगत् के पिता (उत्पादक) और सब गुरुओं से श्रेष्ठ पूज्य गुरु अतः मेरे सद्गुरु हो. आपकी साम्यता करनेवाला भी त्रैलोक्य में नहीं है, फिर अप्रतिम प्रभाववान्

आपसे अधिक कहां से आवे ? इस कारण साष्टांग प्रणाम करके, स्तुत्य व शक्तिमान् आपको आपके प्रसन्न होने के हेतु मैं प्रार्थना करता हूं। जिस तरह पिता अपने पुत्र के अपराध, मित्र अपने मित्र के अपराध, और प्रियजन अपने प्रियजनों के अपराध क्षमा करते हैं, उसी तरह, हे देव, आप कृपा करके आपका पुत्र-मित्र-प्रियवत् जो अर्जुन, उसे उसके अपराध क्षमा करिये।"]

'विश्वरूप दर्शन' होनेके पहले अर्जुन कृष्णजी को मित्र मानता था. किंतु वह चतुर्भुजी माने जाने वाले '**विष्णु**' का उपासक था. विश्वरूप के '**अक्षर**' रूप का अनुभव देखकर उसमें अदृष्टपूर्व हर्ष-संवेदनाका भाव उद्भूत हुआ, परंतु उसमें की भीषण '**क्षर**' स्वरूपी कालगति को देखकर उसका मन व्यथित होगया. अतः वह इष्ट स्थिर करना चाहता था. 'विष्णू' विश्वरूपमें ही होनेसे और कृष्णजी उसी के अवतार माने जाने से, अर्जुन को लालसा हुई कि, अच्छा होगा कि, श्रीकृष्णजी उसी 'विष्णु' का दर्शन मुझे करादें, इसलिये **अर्जुन** कहता है:—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

—गीता ११.४५-४६

[**अर्थः**—"हे देवाधिदेव, जगन्निवास! आज तक कभी न देखा हुआ ऐसा यह सर्वाश्चर्यमय विश्वरूप देखकर मुझे हर्ष हुआ है,

और (क्षरभाव देखकर) भय से मेरा मन व्यथित हुआ (अधिष्ठान कहां स्थिर करूं यह नहीं सूझता) है, इस लिये, हे देव ! आप वह (जहां अधिष्ठान स्थिर करूं ऐसा, आप जिसका अवतार कहते हैं वह विष्णु का चतुर्भुजयुक्त दैवी) रूप मुझे दिखावें। हे सहस्रबाहो ! आपको मुकुट पहने हुए और हाथों में गदा तथा चक्र लिये हुए (ध्यान में आनेवाले तथा अपना इष्ट माने हुए रूप को) देखूं ऐसी मुझे इच्छा उत्पन्न हुई है; क्योंकि, मुझे वही रूप प्रिय लगता है, इस कारण, हे विश्वमूर्ति, आप वही (विष्णु का) चतुर्भुज रूप धारणकर मेरे सामने प्रगट होवें।"]

यह वर्णन अर्जुन के इष्टदैवत के अर्थात् उसने पहले विश्वरूप में ध्यानावस्था में देखेहुए मनःकल्पित अथवा उसके भावनामय विष्णुरूप के उपलक्ष्य में किया गया है. पहले विश्वरूपमें ही जिसे विवेकदृष्टी से अर्जुन ने देखा (श्लोक १७ देखना), उसी विष्णुरूप को प्रत्यक्ष चर्मचक्षुद्वारा देखने की अर्जुन को इच्छा उत्पन्न हुई. इसलिये विष्णु को चतुर्भुजयुक्त मानकर, वैष्णवावतारस्वरूप मानुषशरीरी द्विभुजी श्रीकृष्ण जीसे, जो उसके पास रथमें बैठे हुए थे, उसने यह प्रार्थना की कि, **आप वही विष्णु का चतुर्भुजी रूप धारण करें.** इस तरह आज दिन भी अनेक लोग विश्वरूप-दर्शनोत्तर कहते हैं तथा विश्वरूप देखकर भी अपने इष्टको देखने की इच्छा किया करते हैं. अस्तु. अर्जुन की पूर्वोक्त प्रकार की प्रार्थना श्रवण करके विभूतीरूपी द्विभुजी

श्रीकृष्ण **भगवान्** कहने लगे किः—

> **मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।**
> **तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥**
> **न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।**
> **एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥**
> **मा ते व्यथा माच विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।**
> **व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥**
>
> —गीता ११.४७-४९

[**अर्थः**—"हे अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर अपने **आत्मयोग** (दिव्यदृष्टि अर्थात् अनुभव) द्वारा अपना यह तेजोमय, अनन्त व परमश्रेष्ठ **विश्वरूप** तुझे बतलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त अन्य किसी ने भी इससे पहले (इसतरह संग्राम-स्थानमें अपूर्व युद्धप्रसंग के समय) नहीं देखा है । हे कुरुश्रेष्ठ ! इस मृत्युलोक में तेरे विना अन्य किसी को भी इस प्रकार का मेरा विश्वरूप वेदाध्ययन करनेसे, यज्ञ यागादि करने से, दान देने से, कर्म करने से, अथवा, उग्र तपाचरण इत्यादि किसी प्रकार से भी (बिना दिव्यदृष्टि की प्राप्ती हुए) दृष्टिगोचर नहीं होनेका । तथापि, हे अर्जुन! मेरा इस प्रकार का यह घोर रूप देखकर तू व्यथित और विमूढ नहीं होना, भय छोडकर संतुष्ट चित्तसे वही (चतुर्भुजधारी दैवी विष्णु भगवान् का ही) यह मेरा स्वरूप (विद्यमान द्विभुजी मानुषी वासुदेव-शरीर '**पिण्डमें वही ब्रह्माण्ड में**' इस दृष्टी से मुझ द्विभुजी सद्गुरु में) ध्यान देकर फिर देख. उपासना का कल्पित रूप त्यागकर मेरे इस विभूतिरूप पिण्डात्मक

शरीरमें ही यह सब ब्रह्माण्ड अर्थात् चतुर्भुज विष्णु भी स्थित है यह निश्चय कर*।"]

इस प्रकार 'पिण्डमें सोइ ब्रह्मांडमें' इस तत्वका दिग्दर्शन द्विबाहु कृष्णजीनें अर्जुन को किया. इतना कहकर धृतराष्ट्र से **संजय** कहने लगा किः—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

—गीता ११ ५०

[**अर्थः**—"(अर्जुनके समीप रथपर बैठेहुए) महात्मा (द्विभुजी) वासुदेव ने इस प्रकार भाषण करके, फिर अपना रूप अर्थात् सद्गुरु-स्थान (हृदयपर हस्त रखकर) अर्जुन को दिखाया और (विश्वरूप स्थित घोरतम क्षरभाव से) भीतिग्रसित अर्जुनको सौम्यवृत्तिरूप (मानुषी वासुदेवशरीर अर्थात् पिंड में ब्रह्माण्डबीज) धारण करनेवाले द्विबाहु कृष्णभगवान् ने फिर धैर्य दिया."]

उस समय पिण्डब्रह्माण्डैकरूप द्विबाहु कृष्णका सौम्यवृत्त्यात्मक मानुषरूप (पूजनीय सद्गुरु-स्थान) देखकर **अर्जुन** ने कहा—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

—गीता ११.५१

---

* गीतापरके अधिकांश टीकाकारों नें उपरोक्त श्लोक ४६-५१ तकके लगाये हुए अर्थ श्रीकृष्णको चतुर्भुजयुक्त मानकर लगाये हुए हैं. परंतु वे सब असयुक्तिक व पूर्वोत्तर संदर्भसे विरोधी रहने के कारण ठीक नहीं हैं. इसका विशेष विवेचन **'श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप'** इस स्वतंत्र पुस्तकमें किया गया है जो 'विज्ञाननौका-कार्यालय' (ग्वालियर) द्वारा प्रकाशित भी होचुका है—**संपादक.**

[**अर्थः**—“ हे जनार्दन ! आपका यह (इष्टसिद्धिदाता) सौम्य मानवरूप देखकर अब मैं पूर्ववत् जागृत हुआ हूं और मेरा मन पूर्ववत शांति को प्राप्त हुआ है ”]

यह निश्चययुक्त आनंदके शब्द श्रवण करके द्विबाहु **कृष्ण** बोले—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अपस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥

—गीता ११.५२

[**अर्थः**—“ हे अर्जुन जिसे देखना अत्यंत दुर्लभ, बिना दिव्य-दृष्टि के नहीं दिखता, ऐसा जो मेरा यह रूप तूने देखा, उस पुरुषोत्तमरूप को देखने की देवतागण (दैवी संपत्तिमान् लोगभी) भी सदैव इच्छा किया करते हैं ”]

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

—गीता ११.५३-५४

[अर्थः—“ हे अर्जुन ! मेरे इस पुरुषोत्तमस्वरूपी विश्वरूप का दर्शन जिस प्रकार तुझे हुआ है, उस प्रकार का दर्शन कोई भी पुरुष वेदाध्ययन (ऋग्वेद-ब्राह्मण-उपनिषदादि ग्रंथाध्ययन) करके, तप (पातंजल योग, हटयोग, कुंडलिनी-प्राणायाम इत्यादि) करके, दान करके अथवा यज्ञ करके भी नहीं कर सकेगा. इन भिन्नभिन्न साधनों से मुझ विश्व-

रूप का दर्शन नहीं होने का. परंतु, केवल **अनन्यभक्ती** एवं **दिव्यदृष्टीरूप अनन्ययोग**सेही—अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त इस विश्वमें अन्य कोई भी वस्तु नहीं है, पिण्ड ब्रह्माण्डमें सर्वत्र परमात्मस्वरूपहि अंतर्बाह्य ठोस भरा हुआ है, इस निश्चयसे—हे अर्जुन, इस तरह मैंने दर्शित किये हुए इस **विश्वरूप** को वस्तुतः जानना, देखना और तद्रूपता प्राप्त करलेना संभाव्य है* ”]

यह कहकर **संजय** इसकी फलश्रुति कहता है:—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥

-- गीता ११.५५

---

* इसका विशेष विवरण '**गीतोपनिषद्**' में देखना. भगवान् श्रीयुत मायानन्द चैतन्यजीके निम्न पद्यमें यही विचार अतीव सुंदरतासे ग्रथित किये हैं:-

सगुण बिन निर्गुण पँगु बिचारा,
जाको भेद न जाने गँवारा ॥ ध्रु० ॥
करत कर्म द्विज भटके, विप्रहु रटन रटत श्रुति सारा; ।
छहों शास्त्र भटके मतवाले, काहु न पायो पारा ॥ १ ॥
योगी गुफा में खोजत बैठे अमृतपान विचारा, ।
'पानकि किरिया कौन लखे ?' यह मनमें नहिं उजियारा ॥ २ ॥
जपी-तपी-संन्यासी भटके, शब्दहि 'अलख' पुकारा; ।
'लख' अरु 'अलख' कहें, नहिं जानें याको कौन अधारा ॥ ३ ॥
ध्यान धरे अरु त्राटक करके 'ध्येय'-बिंदु लिखमारा; ।
जानत नाहिं, 'बिंदु' जो देखे उसका सकल पसारा ॥ ४ ॥
मायानंद कहे, "मत भटको, सद्गुरु बिन नहिं थारा; ।
तीनो ऊपर बैठतही, सब आपहि आप निहारा" ॥ ५ ॥

—पद्यावली (पृष्ठ १०)

[**अर्थः**—"सब कर्म मेरे उद्देश्य से करनेवाला, मुझे सर्वस्व समझनेवाला, संगरहित, भूतमात्र से निर्वैर-बुद्धि, ऐसा जो मेरा भक्त है, वह, हे पाण्डव ! मेरे पद को प्राप्त होता है"]

दोहा

रेवाजी के मध्य में, सिद्धनाथ दरबार।
तहां रच्यो यह जगत-हित, सब वेदन को सार॥

इसतरह '**विश्वरूप-दर्शन-योग का यथार्थ स्वरूपाविष्करणरूप**' संज्ञक '**दिव्यदृष्टि का सिद्धीकरण समाप्त हुआ।**



सूचना

यह 'विश्वरूपदर्शन योग' देखकर जिन्हें स्थिर आनंद प्राप्त हो जाय वे, गीता के वक्तव्य के अनुसार, सुदुर्लभ महात्मा हैं—वे अपने आनंद की वार्ता पत्रद्वारा सूचित करने की कृपा करें. परंतु, विशेष मनन-निदिध्यास करके भी जिन्हें **अनुभव** प्राप्त नहीं होगा., उन्हें चाहिये कि, वे स्वयं भगवान् श्रीमायानन्द चैतन्य या अन्य कोई निश्चयी दिव्यदृष्टिवान् पुरुष से मिलकर अपना समाधान अवश्यही करलें, यह नम्र सूचना है.

—प्रकाशक.

पद्य-संग्रह

[द्वितीय विभाग]

उद्देश्य

"यह सत्-सुखकी निज खान सदा स्थिर पाई ।
सो, मायानन्द सु कहे, विश्वहित गाई ॥"

—पद्यावली (पृष्ठ १८)

स्फुट-पद्य-संग्रह

—१—

दिव्यदृष्टिका रहस्य।

तीर्थराज ॐकार[1] में मृकंडुसुत[2] को स्थान।
एक समय तहँ चारमत, गए रहित अभिमान॥ १
कछुक समय शोभा निरखि, फिर नर्मदा[3] प्रभाव।
वर्णन करि गीतार्थ को मथन[4] करें निज भाव॥ २
गीता है श्रुतिशास्त्रमय देखें वारम्बार।
तथापि अर्जुन सम हमें, मिले न साक्षात्कार॥ ३
किस प्रकार प्रभुको लख्यो, अर्जुन ने निजरूप।
'दिव्यचक्षु' कैसे दिए, कहो ज्ञान के भूप॥ ४
गीता को विद्वान सब करें प्रेम से पान।
'दिव्यचक्षु' बिन होय नहिं विश्वरूप को ध्यान। ५
इस हेतु हमने लखीं टीका विविध प्रकार।
दिव्यचक्षु कैसे दिये मिले न यह सत्सार॥ ६
सत्स्वरूप भगवानको जेहि विधि आवे ध्यान।
सो ज्ञानांजन विधि मिले होय जगत कल्याण॥ ७
दिव्यचक्षु जिनके हिये तिनकी वाणी वेद।
बिन अनुभव समुझे नहीं, होवे नहिं भ्रम छेद॥ ८

---

१ अक्षर-प्रकृती में. २ जीव ३ पराशक्ति, अक्षरपुरुष. ४ त्रिपुटी-शोधन (दिव्यदृष्टि का मनन)

जौलों भ्रम तौलों कहां निर्भय-पदको स्थान, ।
याहीसों सत् भेद अब जगहित कहो सुजान ॥ ९

तमोगुणी, आर्तभक्तः—

जगहितको यह प्रश्न सुनि कहे तमोगुण ज्ञान ।
प्रथमहि हमरो मत सुनो सब सन्तों दे ध्यान ॥ १
एक समय हमने सुने सन्तन के यह बैन ।
प्रभुने अर्जुन को दिये दिव्यचक्षु निज नैन ॥ २
और स्वमुख अपनो कियो काल सदृश विक्राल ।
तामें अर्जुनने लख्यो विश्वरूप सुविशाल ॥ ३
मुख अनेक कर पद उदर रवि सम कोटि प्रकाश ।
अति कराल दंष्ट्रा करें तीन लोक को ग्रास ॥ ४
अर्जुन सम बलवानहू डऱ्यो देखि वह रूप ।
तब प्रभुको देखन चले नित्य समान स्वरूप ॥ ५
देखि दीन निज भक्त अति दीनबन्धु भगवान ।
भए नित्य सम पार्थने पायो अनुभव ज्ञान ॥ ६
नारायण हरि, पार्थ नर, कहे सकल संसार ।
तिन की लीला जीव सब देखन चहें गँवार ॥ ७
कलियुग में प्रत्यक्ष नहिं देखि सकें भगवान ।
जपो मन्त्र, धूनी तपो, याहि में कल्याण ॥ ८

रजोगुणी, विषयी, अर्थार्थीः—

मत सुनके तमभाव को कहन लग्यो रजरूप ।
रटत रटत गीता मिल्यो ज्ञान बुद्धि अनुरूप ॥ १
गुप्त भेद यह लखि पऱ्यो अर्जुनको रणमाहिं ।
युद्ध किये निज लाभ है, कहें प्रभु, भय नाहिं ॥ २

अर्जुनको भय जाय नहिं शब्द-बोधके रीति ।
दई योगबल शक्ति निज, भक्त जानि, अति प्रीति ॥ ३

ता बलसे भगवान को दिव्य देह सुविशाल ।
लख्यो, तेज रवि कोटि सम, रूप अनन्त कराल ॥ ४

देखि दीर्घ वह कालतनु, अर्जुन सम धृतिमान ।
डर्‍यो, वहां तुम जीव सब किस विधि करहु गुमान ?॥ ५

तेज शीश भगवान है, 'नेति नेति' श्रुति गांय ।
अल्प शक्ति धी जीव सब कैसे लख में आय ? ॥ ६

सत् स्वरूप भगवान को जग में पार्थ समान ।
काहूको नहिं लखि पर्‍यो, यह हरि-वाक्य प्रमाण ॥ ७

प्रभु लीला जानें प्रभू, दिए कौन विधि नैन ।
छांडि कठिन जंजाल यह, करो ध्यान दिन रैन ॥ ८

सत्वगुणी, ज्ञानी:-

रजको अस मत श्रवण करि, बोले सत्व-प्रधान ।
लखत भाव गीतार्थ को मिलो हमें यह ज्ञान ॥ १
फल आशा त्यजि, वर्णके कर्म करे जग माहिं ।
प्रभु सेवा है सत्य यह, दृढ राखे भय नाहिं ॥ २
धर्म तत्त्व निज त्याग की इच्छा रणमहँ आय ।
देखि कृष्णने बोधहित ज्ञान कह्यो समुझाय ॥ ३
शब्द बोध स्थिर नहिं रहे कोटिन करो उपाय ।
यहां सोच प्रभुने दिये दिव्यचक्षु समुझाय ॥ ४
अक्षर कारण को भयो दृढ निश्चय तत्काल ।
तब अर्जुन को लखिपर्‍यो प्रभु स्वरूप सुविशाल ॥ ५
पुरुषसूक्त कथि श्रुति कहैं ईश्वर को जस ध्यान ।
तस स्वरूप देखत भयो कौंतेय धीमान् ॥ ६

क्षर विराट की दृष्य गति लखि उपजो संदेह ।
घबड़ायो, तब स्तुति करे, चाहे जहँ दृढ नेह॥ ७
देखि भाव सत्, इष्ट अरु सद्गुरु एकहि ज्ञान।
कहा पार्थ से कृष्णने करे विचार सुजान ॥ ८

गुणातीत, अनन्यभक्त, विज्ञानी:-

सत् स्वरूप के ध्यान हित सुनि संतन के बैन।
गुणातीत बोले, त्यजें गुण उपजे निज नैन ॥ १
तीर्थराज रणमाहिं सत् निश्चय दृढ धरि पार्थ।
आयो, तहँ भ्रम दैववश उपजो जगत हितार्थ॥ २
गोत्रज गुरु के मृत्यु का मैं करता मन धार ।
कर्ता धर्ता ईश है भूल गयो यह सार ॥ ३
बिना ज्ञान के कर्म सब होवे हैं अयथार्थ ।
श्रुतिमत अरु अनुभव यही, करें विचार कृतार्थ॥ ४
कर्म करत निज धर्म के मन शुभ-अशुभ जताय।
सो नहिं जाने आर्य श्रुति, फिर फिर गोता खाय॥ ५
आर्यन के कुलको पुरुष पार्थ अनार्य न होय ।
यही सोच श्रीकृष्ण ने बोध दियो सब बोय ॥ ६
शब्द बोध से होय नहिं स्थिर धी, भ्रम नहिं जाय।
'दिव्यचक्षु' गुरुप्राप्त धन अनुभव दियो लखाय॥ ७
पुरुषोत्तम भगवान को विश्व यही आकार।
देख्यो अर्जुन ने, कहे श्रुति यह साक्षात्कार॥ ८
साधन बिन भगवान को दर्शन पार्थ समान।
युद्ध-समय युग आदि में नहिं पायो कोउ आन॥ ९

५ अक्षर का निश्चय.

माने नहिं सिद्धांत यह तो प्रमाद बनि आय।
परम्परा श्रीकृष्णकी सद्‌गुरुपद मिट जाय ॥ १०
अरु श्रुति-द्रष्टा आदि के ऋषि सब सन्त सुजान।
दर्शन बिन भगवान के रहे, वेद अज्ञान ॥ ११
दैवयोग, अरु हरिकृपा, जन्म अनेक विचार।
जिन कीन्हें, ते सब लखें विश्वरूप गुरु द्वारें ॥ १२
अलख वस्तु परिपूर्ण जो ताको विश्व स्वरूप।
त्रिपुटि कल्पि करि गाँय श्रुति तरिवे को भवकूप ॥ १३
स्थान भेद से लखि परे यह त्रयभाव अनेक।
परन्तु श्रुति इन सबन में लक्ष्य करावे एक ॥ १४
क्षेत्र, ज्ञान अरु ज्ञेय त्रय, ध्यता ध्यान सुध्येय।
क्षर अक्षर परमात्मा, ज्ञाता ज्ञान सुज्ञेय ॥ १५
कल्पित मिथ्या होत हीं अक्षर रूप समाय।
रहे एकरस ज्ञान यह विश्वरूप बनजाय ॥ १६

६ 'विश्वं विष्णुः' जो प्रत्यक्ष गोचर होरहा है वही विश्वरूप, जिस प्रकार 'दिव्यदृष्टि' पुस्तक में दर्शित किया है ७ जो पुरुष 'येऽप्यन्यदेवता-भक्ता०' बुद्धी के नहीं होते एवं जो अनन्यबुद्धि के होते हैं, उन्हें तत्वदर्शी विज्ञानीपुरुषों से 'दिव्यचक्षु' तत्कालही प्राप्त होते हैं; उन्हे प्राप्ती की दृष्टी से पृथक् 'सत्संग' (सहवास) की आवश्यकता नहीं रहती. परंतु, जो इतस्ततः भटके हुए हैं, अथवा 'येप्यन्यदेवताभक्ता०' है (अन्य देव देवताओंका भजन-पूजन करने वाले) इत्यादि हैं, उन्हें उनके पूर्व कुसंस्कार के कारण तत्वदर्शी विज्ञानी पुरुषों से 'दिव्यचक्षु' तत्काल प्राप्त नहीं होने पाते—ऐसे जनों को संतोंके 'संग' की आवश्यकता होती है. अनन्यभक्ति, हरिकृपा या अनेक जन्मतक स्वयं विचार-तप करना यह परमात्मप्राप्ती के भिन्न भिन्न मार्ग नहीं हैं, और न उपरोक्त विधान का यह हेतु है कि एक में सद्‌गुरुमुखकी आवश्यकता है, दूसरे में नहीं —संपादक.

अर्जुनसम सद्गुरु वचन, अरु श्रुति-वाक्य प्रमाण,।
सात्विक श्रद्धा है हिये जिनके, वे भगवान॥ १७
'दिव्यचक्षु' यह, बोध यह, यही योग की शक्ति,।
सत् ज्ञानांजन है यही, साक्षात्कार, स्वमुक्ति॥ १८

दृष्य भाव भक्षण करे कालरूप भगवान।
आठ पहर डाढें कठिन, घड़ियां दांत समान॥ १९
क्षर विराट की लखत गति, कँपित तनु, धरि भाव,।
कहे कृष्ण से पार्थ—"प्रभु, मन को स्थान बताव॥ २०

अक्षर[८] निश्चय में गयो, क्षर[९] स्वरूप गतिमान।
चित्त स्थिर कैसे करूं? सत्य कहो भगवान्"॥ २१
यह भय लखि भगवान ने भक्त जानि, निज भेद।
इष्ट स्थान सद्गुरु दरश दियो, कियो भ्रम छेद॥ २२

हैं विभूति भगवान की सत्य बोध के हेतु।
दम्भ कपट पाखण्ड के नष्ट करें सब सेतु॥ २३
बाजीगर तन मुख करे यदि विशाल जगमाहिं।
विश्वरूप में सन्त सब जाने तृण सम ताहि॥ २४

आदि अन्त जहँ लखि परे नाशमान बहुजाय।
देखि देखि नित पचिमरे, भ्रम नहिं नेक नसाय॥ २५

मोह भयो सब नष्ट अब, बोध भयो निज आज,।
मुक्तकंठ अर्जुन कहे, छांड़ि द्वैत की लाज॥ २६
करि विचार देखहु सुजन, त्यजि निजमत अनुमान।
बाजीगर से सन्त जन कहें नहीं भगवान॥ २७

नाम-रूप को त्याग श्रुति 'नेति नेति' कहिं गांय।
'अस्ति-भाति-प्रिय' आत्मा सद्गुरु देत लखाय॥ २८

---

८ परा-प्रकृति. ९ अपरा-प्रकृति.

एक भाव सब विश्व में देखे 'सात्विक' ज्ञान, ।
हैं अनन्त क्षेत्रज्ञ अस 'रजो' करे अनुमान ॥ २९

युक्ति हीन, अनुभवरहित, लखे घोर अज्ञान ।
एक भाव में ब्रह्म सब, सो है 'तामस' ज्ञान ॥ ३०

निश्चय राखे सत्व दृढ, भटके रज, तम नाश; ।
भाव जहां जस बसे, तस होवे तहां प्रकाश ॥ ३१

यही सोच सब सन्त जन भृंगी-कीटक-न्याय ।
कर्म करें निज सत् समुझि, दृढ़ आनन्द समाय ॥ ३२

जिनके हिय बैठे नहीं इतने पै सत् सार ।
'दिव्यदृष्टि' गुरु ग्रन्थ वे देखें दृढ़ मति धार ॥ ३३

सत् त्रेता द्वापर भटकि किये कर्म सब, सार ।
ताको फल सत् ग्रन्थ यह, अन्त समय आधार ॥ ३४

क्षुधाक्रांत सत्पुरुष के सन्मुख है पक्वान्न ।
पाक-क्रिया फिर नहिं करे, पाकर रहे प्रसन्न ॥ ३५

अब मेरे सब रूप तुम, राखो दृढ यह टेक ।
त्रिपुटि सहित, तीनों रहित, लखनेवाला एक ॥ ३६

'दिव्यचक्षु' को बोध यह जगहित कियो बखान ।
कम्प रहित निश्चय करे मायानन्द समान ॥ ३७

-२-

चातुर्वर्ण्य धर्म ।

(दोहा)

रेवा तट ॐकारमहं एक समय की बात ।
जगहित् की चर्चा करन बैठे सन्त सुजात ॥ १
चार वर्ण के श्रेष्ठ तहँ आए सब सुख हेत ।
अहंभाव त्यजि बोध हित प्रश्न कियो मन देत ॥ २
चार वर्ण के कर्म हैं किस प्रकार ? किस हेतु ? ।
समझावें, हित कौन में ? आप धर्म के सेतु ॥ ३
हितदाई यह प्रश्न सुनि, श्रेष्ठ कहें निज कर्म ।
श्रवण करहिं जे चित्त से तिनको मिले स्वधर्म ॥ ४

ब्राह्मण वर्णः—

प्रथमहिं ब्राह्मण वर्ण यह कहेः—" सुनो सब रूप, ।
हरिके मुख में हम रहें, जग हित हेतु स्वरूप ॥ १
इस कारण सद्वस्तु को बोध करन जग माँहि ।
क्षर्म स्वभावज हम करें, श्रवण करो भव नाहिं ॥ २
शम-दम-तप, अरु शौच-त्रय, क्षमा, सरलता, धर्म ।
ज्ञान तथा विज्ञान, स्थिर आस्तिक्य, नव कर्म ॥ ३
' जग हित यामें कौन है ' हमें प्रश्न यदि होय ।
ताको विधि समुझाय के कहें, सुनो सब कोय ॥ ४
रूपराशि भगवान है, देखो श्रुति के बैन ।
याहीसों ' शम ' चित्त को, दमन करे दिन रैन ॥ ५

द्वैत-भावना योग से जब जब उपजे काम।
कर्मेन्द्रिय निज स्थान में राखें 'दम' यह नाम॥ ६
सब प्रकार के पाप जो दान-ग्रहण से आँय।
गायत्री का जाप 'तप' करिके तिन्हें जलाँय॥ ७

निष्कलंक मति दृढ रहे, स्पर्श करे नहिं पाप।
इसी हेतु मन कर्म वचन, 'शुचि' राखें, नहिं ताप॥ ८
एक वस्तु में कर्म सब होवे हैं यह मानि।
'क्षमा' शस्त्र धारण कियो, समाधान फल जानि॥ ९

समाधान दृढ होत ही हुई 'सरलता' प्राप्त।
बुद्धिभेद जाने नहीं, होवे सब जग आप्त॥ १०
भेद-भावना मिटत ही भाग गयो अज्ञान।
एक वस्तु है जगत की यह पायो दृढ 'ज्ञान'॥ ११

ज्ञान भयो जब दृढ, मिले सद्गुरु आपहि आप।
'दिव्यचक्षु' देकर हरें जन्म-मृत्यु का पाप॥ १२
निज धी, अरु सद्गुरु-कृपा, वेद-वचन, यह तीन।
मिलतहि अनुभव स्थिर भया, कर्म भये सब क्षीण॥ १३

इस प्रकार तन-मन दमन करिके, जो 'विज्ञान'।
प्राप्त कियो, वह जगत हित देवें, लेत सुजान॥ १४
प्रभुसेवा हमरी यही, राखो दृढ विश्वास।
अपने अपने वर्ण में रहे, होय नहिं नाश॥ १५

क्षत्रिय वर्णः–

ब्राह्मण के नव कर्म सुनि, कहे सुक्षत्रिय वर्णः— ।
"बाहु-स्थान में हम बसें, कर्म सुनो दे कर्ण॥ १
शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, करे नहीं रण-त्याग।
दान तथा हरि-भक्ति दृढ, जग हित हमरे भाग॥ २

यामें जग हित है कहां ताको भेद यथार्थ ।
श्रवण करो दृढ चित्त से, होवे बुद्धि कृतार्थ ॥ ३
मन्द बुद्धि जाने नहीं हित अनहित की बात ।
तिन्हें देन सिख 'शौर्य' है, मानत ही भय जात ॥ ४
'अहं'-बुद्धि के रूप सब, बिन भय करें न प्रेम ।
याही सों 'तेजस्विता' हम राखें दृढ़ नेम ॥ ५
बड़े भाग्य से यह मिले नर तनु, करो विचार ।
'धीरज' यदि होवे नहीं, तो सब कर्म असार ॥ ६
यामें जगकल्याण है वही कर्म दिन रैन ।
धारण करि दृढ़ 'दक्षता' करें, सुने यश बैन ॥ ७
जे नर हमरी दक्षता भंग करें मद पाय ।
तिनसे होवे 'युद्ध,' नहिं रण छोड़ें, मर जाँय ॥ ८
तन-मन-धनको होम जे जगहित करें सुजान ।
तिनको धन देकर करें सन्मुख सबके मान ॥ ९
प्रभुसेवा में पाप जो हो जावे अनजान ।
इसी 'दान' के योग से होवे भस्म निदान ॥ १०
विश्व यही भगवान को है स्वरूप यह भाव ।
मन में दृढ़ बैठा रहे, नहिं आवे दुर्भाव ॥ ११
सेवा यह प्रभु की कही यही यथारथ कर्म ।
हैं हमरे, निश्चय करो, जानो यही स्वधर्म ॥ १२

वैश्य वर्णः—

दो वर्णों के कर्म सुनि, वैश्य वर्ण धीमान ।
कहे धर्म निज वर्ण के, सुनो सन्त दे ध्यान ॥ १

'हमरो जँघा स्थान है, जाने श्रुति अनुसार ।
कृषि, गोरक्षण, वाणिज्य, तीन कर्म में सार ॥ २

आप कहें यदि 'कर्म में सार कौन जग हेत'?।
भेद सु ताको अब सुनो, श्रवण करे सुख देत॥ ३
सब भूतों का अन्न है जीवन, श्रुति-सिद्धांत।
इसी हेतु से 'कृषि' करें, मानो सन्त यह बात॥ ४
गौमाता सब जगत में अन्न और घृत देत।
'रक्षण' तिनको हम करें तन-मन से इस हेत॥ ५
प्रभु के रूप अनन्त हैं, इच्छा विविध प्रकार,।
तृप्ति हेतु तिनके करें हम सदैव 'व्योपार'॥ ६
कर्म करत निज पाप यदि अनजाने बनिआय।
संचित धन से नित करें 'गौरक्षा,' जल जाय॥ ७
यहि विधि हमरे वर्ण की प्रभुसेवा जग माहिं।
कथन करे श्रुति, सन्त सब, दृढ़ राखे भय नाहिं"॥ ८

शूद्र वर्णः—

तीन वर्ण के कर्म सुनि कहे शूद्र कर जोरिः–।
"एक कर्म में प्रीति दृढ हम राखें मति मोरि॥ १
व्यासोनारायण कहें, 'विष्णु विश्व में एक'।
अनुभव से निश्चय यही, यही हमारी ऐक॥ २
इस कारण 'सेवा' यही, एक कर्म दृढ प्रीति।
निज धन अपनो जानकर, रहें वर्ण की रीति॥ ३
गहन धर्म सेवा कह्यो, भस्म करे सब पाप।
दृढ मति से धारें गयो, चौरासी को ताप"॥ ४

पंचः—

चार वर्ण के कर्म हैं, प्रभु सेवा से हेत।
यह सत सुनि, सज्जन पुरुष मुदित भये रस लेत॥ १

कछुक समय रसपान करि, बोले सन्त सुजानः-।
"सुनो प्रभु के रूप सब, दृढ धी से त्यजि मान॥ २

दृष्यमात्र निशिदिन करे प्रभु सेवा, नहिं आन।
भूतजात के कर्म सब देखो, मिले प्रमाण॥ ३

निजानन्द के हेतु सब कर्म भये निर्माण।
यही भाव दृढ होत ही कर्म करे कल्याण॥ ४

एक राज के कर्म सब एकहि से नहिं होंय।
निज निज ग्रह अनुभव मिले, जानतही भ्रम रोय॥ ५

इसी हेतु से बीज को करि विचार श्रुति गाय।
चार वर्ण के कर्म शुभ करे, दुःख मिट जाय॥ ६

जिस तरु को जस बीज है, तस तरु होय प्रमाण।
यही नियम सब जगत में, देखे अनुभव ज्ञान॥ ७

उसी बीज के देह सब, हैं अबहुं नहिं भेद।
त्यागे से निज कर्म सत, मिले न सुख, करि खेद॥ ८

लाभ-दृष्टि निज कर्म में चौरासी को जाल।
गीता में इस हेतु से नाहीं करें गुपाल॥ ९

यही सुनिश्चय धारकर पूर्वज निज आचार।
करते रहे, सुख भोग सब लेत भये, भव पार॥ १०

ज्ञान नेत्र से हीन नर नहिं जाने यह भेद।
फल देखे निज कर्म में, करन चहे भ्रम छेद॥ ११

जगत लाभ के हेतु जो होवे, वही स्वकर्म;।
अपने सुख के हित कियो, वही बंधक है कर्म॥ १२

सर्वरूप भगवान, यह दृढ निश्चय है ज्ञान।
होना जाना है नहीं, अनुभव देत प्रमाण॥ १३

निश्चय है जिसका यही, वही सुमति को भूप;।
विजय-कीर्ति-यश-भोग करि, रहे प्रभू को रूप॥ १४

ईशरूप है विश्व सब, समुझ करे व्यवहार,।
सो मेरा ही रूप है, कृष्ण कहें यह सार"॥ १५

सन्तन के अमृत वचन सुनि बोले सब लोग।
निज वर्णाश्रम धर्म में प्राप्त होंय सत भोग॥ १६

सन्तन के सिद्धांत यह जिनके मन बस जांय।
'मायानन्द समान वे निज निर्भय पद पांय"॥ १७

—३—

पंच-कोष-निरास।

[तृष्णाक्षय]

(दोहा)

प्रश्न—

श्रीगुरु दीनदयाल जी, दीनबन्धु भगवान्।
मेरे हिय भ्रम सो सुने, मेटें दे सत् ज्ञान॥ १
तृष्णाक्षय करके रहे ईशाच्छादन खोय,।
वमन सदृश धन अन्य को जाने अस धी होय॥ २
निश्चय यह श्रुति-वाक्य को हिय में रहे समाय।
सो सब अब समुझाय के कहें, प्रश्न मिट जाय॥ ३
आप बिना इस विश्व में मुझे अन्य नहिं स्थान।
इस कारण सो गुप्त धन निज हित करें बखान॥ ४

उत्तर—

हे नारायण, तुम सुनो गुप्त भेद सो आज।
जानों यह सब भावना है, भ्रम ही को काज॥ १
भ्रम से तृष्णा भास, भ्रम आच्छादन बन जाय।
भ्रम ही में धन अन्य का हरण करन मन जाय॥ २
सब प्रकार की भावना जब ब्रह्मार्पण होय।
मन बैठे निज वस्तु में, तृष्णा लखे न कोय॥ ३

पंच-कोष के भास को ईशाच्छादन जानि।
उसही को अर्पण करे, लखि न परे भव हानि॥ ४

जीवों का व्यवहार में धन जाने सन्मान।
सो काहू को नहिं हरे, संतन को अस ज्ञान॥ ५

यही दृष्टि मन धारकर; आगे के सुविचार।
जे नर देखें प्रेम से, तिन्हें मिले सत्सार॥ ६

प्रश्न—१ अन्नमय कोष (किसान)

प्रथम कोष यह अन्नमय, प्रगट अन्न से होय।
मैं कारण तिस अन्न का, फल जाने सब कोय॥ १

अन्नदान सम विश्व में श्रेष्ठ पुण्य नहिं आन।
सुर-नर-मुनि सब गा रहे, देखो वेद-बखान॥ २

यज्ञादिक सब कर्म नित होवे हैं जगमाहिं।
अन्न दान बिन पूर्णता तिनकी होवे नाहिं॥ ३

इस कारण हम सबन से पुण्यवान, नहिं आन।
हिये धार अभिमान अस, बोला वचन किसान॥ ४

उत्तर—

प्रथम कोष को घृणित यह है कल्पना-तरंग।
हिय में नहीं लेवे कहे सत् सिद्धांत अभंग॥ १

वायु-अग्नि-जल-अन्न जिन जीवन को आधार।
तिन्हें शान्ति हित नित्यप्रति देवे कौन अहार?॥ २

मेघ-वृष्टि से अन्न सब धरती में जम जाय।
तुझको देवे धन घना, पुण्य कहां से आय?॥ ३

यज्ञादिक के अन्त में, अन्नदान का सेतु।
बांधे फल के लाभ से, पुनर्जन्म के हेतु॥ ४

अब तेरे इस कर्म में, पुण्य कहां सो बोल ?
द्वैतबुद्धि हिय धार के दिग्भ्रम लीन्हो मोल ॥ ५
इसही को तृष्णा कहा, आच्छादन हरि केर ।
जिसका धन देवे उसे, अस गावें श्रुति, हेर ॥ ६

प्रश्न—२ प्राणमय कोष (व्यौपारी)

धन अरु अन्न किसान को देकर कृषि का काज ।
करवाता हूं जगतहित, खावे सकल समाज ॥ १
रक्षण उपजे अन्न का करता हूं मन लाय ।
देता हूं सो सबन को, जब अकाल पड़ जाय ॥ २
देश देश से लायकर विविध भांति को माल ।
तृप्ति हेतु नित सबन के राखूं तिसे सम्भाल ॥ ३
घाट, कुवां, मंदिर तथा अन्य और जन-स्थान ।
बनवाता हूं जगत हित, गो पालूं धर ध्यान ॥ ४
कहूं कहां तक पुण्य मैं? मेरे सम नहिं और ।
देखो श्रुति प्रमाण है, मिले स्वर्ग में ठौर ॥ ५

उत्तर—

तजे प्राणमय कोष के, यह भ्रमरूप तरंग ।
समुझावें अस सत् तिसे, होवे दिग्भ्रम भंग ॥ १
देवे अन्न किसान को लाभ दृष्टि हिय आन ।
राखे है पृथ्वी तिसे, व्यर्थ तुझे अभिमान ! ॥ २
तेरे ही अतिलोभ से, पड़े अकाल दुकाल ।
सो भर देवे दश गुना, तेरे घर में माल ॥ ३
एक एक के दस मिलें, यही हेतु मन धार ।
मोल मंगाना सैंतना, तृष्णा को व्यवहार ॥ ४
कीर्ति होय इस बुद्धि से मंदिर कुवा तलाव ।
जनस्थान स्थापन किये, जगहित कस बतलाव ? ॥ ५

पुष्टि स्वाद धन कीर्ति को लाभ लगे न छदाम।
गोरक्षा के नाम से हिये सदा अस काम॥ ६

कहो सत्य इस कर्म में पुण्य लखा किस ठौर?।
गहे अविद्या, कार्य अस सो भटकं चहुं ओर॥ ७

आच्छादन भगवान को, यह तृष्णा अस नाम।
जिसको तिसका समर्पण करे, लखे निजधाम॥ ८

प्रश्न—३ मनोमय कोष (जमींदार)

धरती पर सब गांव के मेरा है अधिकार।
जाने सकल किसान अस, यही अन्नको द्वार॥ १

घाट धर्मशालादि हैं धरती के आधार।
सो मेराही माल है, पुण्यप्रीति के द्वार॥ २

विविध भांति के जीव, अरु पशु-पक्षी दिन रैन।
मेरे जंगल में रहें, चरें करें सुख चैन॥ ३

निज पुण्याई की कथा कहूं कहांतक गाय।
है इसका वैकुन्ठ फल, रह्या जगत में छाय॥ ४

उत्तर—

कहा मनोमय कोष ने निज धी को अज्ञान।
त्याग करे अरु अस कहे सत्य सनातन ज्ञान॥ १

जो धन लेवे ग्राम का मालिक वही, न आन।
क्यों गावे है कीर्ति निज? व्यर्थ करे अभिमान॥ २

घाट, धर्मशाला, कुवा, मंदिर अरु जन-स्थान।
विश्वरूप को माल है, पंच धनी, नहिं आन॥ ३

वायुदेव ही बीज सब जंगल में फैलाय।
वरुणदेव रक्षा करें, तिनको जल बरसाय॥ ४

तिसमें पशुपक्ष्यादि नित करें परिश्रम खांय।
जंगल यह धन आदि से तिनको ही कहलाय॥ ५
देखा है इस कर्म में पुण्य कहां? बतलाव।
डाले है बंधन तुझे तेरा 'अहं'-स्वभाव॥ ६
जानो आच्छादन यही ईश्वर को बलवान।
सौंप पराया धन समुझि जिसका तिसे न आन॥ ७

प्रश्न—४ विज्ञानमय कोष (राजा)

मैं ही हूं पृथ्वीपती एक मात्र, नहिं और।
सत्ता मेरी अचल है जल स्थल में सब ठौर॥ १
मेरी सत्ता में बसें ग्राम-ग्राम के लोग।
प्रजा पुत्र सम मैं लखूं, सुख से भोगें भोग॥ २
प्रजा दुखी परचक्र से तनिक न होने पाय।
अस राखूं दृढ दक्षता, नीति और सत् न्याय॥ ३
हेल-मेल से चल रहे अनेक मत के लोग।
मेरा ही है पुण्य सो, है सराहने योग॥ ४
पाखंडी-ठग-चोर अरु हिंसक जीव समाज।
सज्जन के बैरी यही, मेटों तिनकी खाज॥ ५
देता हूं मैं सबन को औषधि-विद्या-दान।
अरु सेवक जो विश्वका तिसे अन्न धन मान॥ ६
बढे रोग सर्वत्र अरु जब अकाल पड जाय।
तिस संकट में प्रजा सब मेरा पुण्य बचाय॥ ७
गणना मेरे पुण्य की नहिं कर सके बखान।
फल इसका वैकुंठ में वसे मिले, प्रभु आन॥ ८

उत्तर—

कहे कोष विज्ञानमय अहंभाव निज गाय।
सो भ्रम है अस जान कर कहों तिसे समुझाय॥ १

जानो पृथ्वीपती हैं एक विष्णु भगवान्, ।
वेद सनातन कह गये, माने संत प्रमाण ॥ २
कितने ही नृप होगये निज सत्ता अस गात ।
देखा चाहे गांव में तनिक न आवे हात ॥ ३
हिये भीत परचक्र की राज्य-लोभ बतलाय ।
प्रजा-क्षोभ भय हेतु से न्याय-नीति मन भाय ॥ ४
जीव साथ निज कर्मफल लेकर जगमें आय ।
सोही पालन नित करे तिनको, अस श्रुति गाय ॥ ५
आपस में लड़ते नहीं अनेक मत के लोग ।
सदा दबावे ईशभय, तिनके हिय के रोग ॥ ६
दुर्जन हिंसक जीव से तेरे धनका नाश ।
बैर करें क्यों व्यर्थ वे? सज्जन रहें निराश ॥ ७
जीव मात्र निज सम लखे, जानें सज्जन सोय ।
कौन तिसे दुख देसके? प्रिय माने सब कोय ॥ ८
विद्या औषधि अन्न धन अरु देवे सन्मान ।
कीर्ति-प्रतिष्ठा जगत में फैले अस हिय मान ॥ ९
प्रजानाश से कोष अरु वैभव बल घट जाय ।
अस भय तेरे हिय वसे, पुण्य कहां से आय? ॥ १०
अब बोलो इस कर्म में लखा पुण्य किस ठौर? ।
यह भ्रमही देवे सदा चौरासी, नहिं और ॥ ११
आच्छादन है ईश का यह, तृष्णा अस नाम ।
जिसकी तिसको समर्पण करे, रहे नहिं काम ॥ १२

प्रश्न—९ आनंदमय कोष (योगी)

मैंने मान मिटा दिया, दंभ रहे नहिं पास ।
हिंसा की जड़ काट के, किया शांति में वास ॥ १

सरल वृत्ति डोले नहीं, सद्गुरु बिन नहिं ध्यान।
मन-वाचा-काया शुचि, स्थिरता रही समान॥ २
मन की चंचता मिटी, इंद्रियार्थ नहिं भाय।
अहंकार दीखे नहीं, पांचो दोष न खांय॥ ३
पुत्र-स्त्री-गृह आदि में रही न अति आसक्ति।
अचल वृत्ति सुख-दुःख में, द्वैतरहित हरिभक्ति॥ ४
प्राकृत नर-गृह-वेश के संघन से नहिं प्रीति।
रहता हूं एकांत में प्रभु इच्छा के रीति॥ ५
प्रीति सदा अध्यात्म में, नहीं भावे कुछ और।
तत्वज्ञान का मोक्षफल वहीं लिखे मति मोर॥ ६
यह लक्षण हैं ज्ञान के, भिन्न वही अज्ञान।
मिले नहीं आनन्द तहँ, मानो सत् श्रुति-गान॥ ७

उत्तर—

व्यर्थ हिये आनन्दमय कोष करे अभिमान।
कहो तिसे समुझायके अस सत् अनुभव ज्ञान॥ १
अहँ स्फुरण से नित्य प्रति होवे जो जो कर्म।
सो सो सबही प्रकृतिके हैं, स्वभाव का धर्म॥ २
स्वभाव में है मान अरु अमानित्व को भाव।
दंभ-ढोंग-हिंसा-अरति अरु रति करे स्वभाव॥ ३
स्वभावमें ही शांति प्रिय, लखे अशांति स्वभाव,।
सरल वृत्ति को आचरण है स्वभाव को भाव॥ ४
सद्गुरु-सेवा हिय बसे यह स्वभाव को खेल।
शौचाऽशौच स्वभाव में बाढ़ रही है बेल॥ ५
स्वभाव ही में स्थित रहे स्थिर अस्थिर यह नाम।
मन वशसे सुख, अवश दुःख यह स्वभावको काम॥ ६
इंद्रियार्थ से प्रेम अरु वैर स्वभाव बताय।

स्वभाव ही हिय में सदा अहंकार भरलाय ॥ ७
जन्म-मृत्यु अरु जरा-दुःख-व्याधि पांच यह भाव।
लखे दोषमय, नहिं लखे, यह है खेल स्वभाव ॥ ८
गृह-वित-पुत्रादिक यही निज धन लख में आय।
शत्रु सदृश सब त्यागना, यह स्वभाव में जाय ॥ ९
दीखे इष्ट-अनिष्ट दो, अन्य नहीं अस भाय।
द्वैतभाव में प्रेम अरु द्वेष स्वभाव बताय ॥ १०
प्राकृत-संस्कृत हिय वसे, प्रीति और अप्रीति।
सब में दुख, एकांत सुख, है स्वभावकी नीति ॥ ११
प्रीति सदा अध्यात्म में, अन्य न हिये समाय।
ऐहिक फल अरु मोक्षगति यह स्वभाव दरसाय ॥ १२
ज्ञान और अज्ञान हिय जो दीखे आनन्द ?।
जानों तुम इन सबनको है स्वभाव निजकन्द ॥ १३
अब बोलो इस कर्म में कहां लखा आनन्द।
तेरा है अभिमान यह, भव-बंधन मतिमन्द ॥ १४
ईशाच्छादन है यही, तृष्णा अति बलवान।
करे समर्पण ईश को, धन नहिं दीखे आन ॥ १५

समाधान

मायोपाधिक ईश का आच्छादन यह कोष।
यही पराया धन, यही तृष्णारूप त्रिदोष ॥ १
सब ब्रह्मार्पण होतही तृष्णाक्षय हो जाय।
तहां पराया धन कहां दीख सके, जो लाय ॥ २
इस प्रकार हिय में सदा निश्चय एक समाय।
मायानंद चैतन्य को परंभाव सो पाय ॥ ३
प्रातःसमय जो यह लखे तृष्णाक्षय की रीति।
तिसे मिले आनंद सत् विश्वरूप की प्रीति ॥ ४

बुद्धगीता।

[गीताचालीसा]

(दोहा)

सुनहु ! सुनहु, सत्प्रिय सुजन ! सुनहु छांडि भ्रमभेद।
गुप्तरहस्य-प्रकाश यह दृढ धारे नहिं खेद॥ १
निजानन्द-अस्तित्व में स्फुरणरूप जो भाव।
पराशक्ति अक्षर यही, माया वस्तु-स्वभाव॥ २
यही ध्यान को ध्येय है, दर्शन-भाव, अनन्य।
क्षेत्रन में क्षेत्रज्ञ, अरु यही रूप चैतन्य॥ ३
इसही को श्रुति सन्त जन माया सूक्ष्म बतांय,।
त्रिविध-कल्पना भेद से त्रिगुण रूप बन जाय॥ ४
यही जगत के देव हैं ब्रह्मा-विष्णु-महेश।
इनही के कारण भयो माया वैभव शेष॥ ५
'ब्रह्मदेव रचना करें, विष्णु करें प्रतिपाल,।
हरण-करण के हेतु हैं भूतनाथ जंजाल'॥ ६
इस प्रकार दृढ़ कल्पना गहि, भूले सब लोग।
सुखदाई निज रूप सत्, चाहे निशि दिन भोग॥ ७
यही जीव जानहु सुजन वृत्ति शुभाशुभ मांहि,।
याहीसो सुख-दुख सदा भोगे, स्थिर मन नाहिं॥ ८
स्थिर सत्सुख हित भूत सब, गावें श्रुति हरिरूप;।
गुण-विभाग अरु गुणनको वर्णन करें स्वरूप॥ ९
जब सत्सुख उपजे नहीं फलधी से जग माहिं,।
तब लागे निज मूल को ढून्ढन मनहि माहिं॥ १०

भूमि लखी गुण 'गंध' से, 'रस' गुण से जल भाव।
'रूप' अग्नि-गुण लखि पर्‍यो, 'स्पर्श' सु वायु-स्वभाव॥ ११
मनन कियो पुनि, तब लख्यो 'शब्द' यही आकाश,।
शब्द-गर्भ में बैठ करि, देखे 'गुण' सुप्रकाश॥ १२
'मन' ब्रह्मा रचना करे, 'बुद्धि' विष्णु स्थिति-भाव।
'अहंकार' लय शिव, यही अपरा दृश्य बहाव॥ १३
लखि विकारगति 'क्षर' कह्यो, अपरा सगुण स्वरूप।
स्फुरण-भाव 'अक्षर' परा, निज प्रकाश को रूप॥ १४
परा लक्ष्य, उपलब्धि निज; अपरा व्यष्टि विकार;।
जहँ दोनों यह कल्पना वही वेद-आधार॥ १५
वेद रचित जंजाल है, तीन गुणन के हेतु,।
तिनके त्यजि सब धर्म निज, जानो तारक सेतु॥ १६
किस प्रकार सतरूप है, लखन हेतु श्रुति गाँय।
त्रिपुटि-भाव मय कल्पना छांडतहि भय जाय॥ १७
कर्म करो निज धर्म के वर्णाश्रम अनुसार।
जानि एक, फल त्यजि रहो निर्भय, यह सत्सार॥ १८
पांचजन्य द्वारा कह्यो गीता कथि जग मांहिं।
मुक्ति कीन्ह सबकहँ सुलभ देश-समय कछु नाहिं॥ १९
भेद न ताको लखि, किये उदर हेतु बहु पन्थ।
रूप रहित दें नाम गुरु, लखे भेष में सन्त॥ २०
दम्भिन निज मत कल्पिकरि रचे मन्त्र बहुभांति,
वर्णाश्रम श्रुति-मार्ग मम करहि नष्ट, तजि जाति॥ २१

---

१० 'गीतोपनिषद' १८.६६ देखना-सं० ११ सब मनुष्यप्राणियोंमें स्वभावतः दृग्गोचर होनेवाले चार स्वाभाविक 'वर्ण' तथा स्वाभाविक 'आश्रम' यहांपर उपलक्षित हैं, श्रीमत् शंकराचार्यजीनें विशेष प्रचलित किये हुए कृत्रिम आश्रम नहीं —सं०

निज पूजन के हेतु हैं सब विभूति श्रुति गाँय।
भेद न यह लखि, इष्ट में सर्व ब्रह्म गोहराय॥ २२
नित्यानित्य विवेक त्यजि, शद्रहिमें गुरुभाव।
स्थिर कीन्हो, लागे जपन, ध्येय न लखे स्वभाव॥ २३
है त्रिवर्ण[12] को इष्ट सत् गायत्री को ध्यान।
सो मम आज्ञा सत्य तजि कहें मुक्ति कछु आन॥ २४
तीन वर्ण को मुक्ति हित पुराणोक्त पथ गाय।
शूद्रन को श्रुतिमंत्र दे चौरासी भटकांय॥ २५
'पतिरेव गुरुः स्त्रीणां' नहिं जाने यह भेद।
मंत्र फूंकि तिनके करें सत्-निष्ठा में छेद॥ २६
मर्यादा में शास्त्र के है गुरु-मंत्र प्रमाण।
करें एक गुरु-मंत्र को निज स्त्री भगिनि समान॥ २७
साधु नाम धरि, रूप निज पुष्टि हेतु बलि देंय।
टेक कथें निज भेक की, पशु दागे धन लेय॥ २८
इस प्रकार पाखंड सत् फैलायो चहुं ओर।
नाश करें निज धर्म सत्, पन्थ कहे सिर मोर॥ २९
इस कारण दारिद्र्य-दुख, आयु-नाश, हृद्रोग[13],।
मति-भ्रम रोग, अकाल नित, भये तेजहत लोग॥ ३०

---

१२ यहां '**वर्ण**' द्विजकुल तथा द्विजजाति का वाचक है, स्वभाव सिद्ध वर्ण का नहीं; और इन कविताओं में किया हुआ विवेचन भी विशेषतः इसीके उपलक्ष्य में समझना चाहिये.—सं० १३ "कान फूंकनेसे पति-पत्नी में बुद्धिभेद होता हुआ कलुषित संतानोत्पत्ति होती है, जिससे वह ओजहीन पुरुष अनायास प्लेगादि रोगों की कराल दाढोंमें फंसजाते में. इस तरह मूलतः दूध बिगड जानेसे, दही बिगड जाता है और उससे घी भी बिगडता हुआ, सभी विपरीत परिणामकारक बन जाता है" ऐसा भगवान श्रीमायानन्द चैतन्यने अन्यत्र कहा है उससे उपरोक्त वक्तव्य पर अच्छा प्रकाश डाला जाता है—**संपादक.**

सत्य सनातन धर्म को वैभव-स्मृति-धृति-कीर्ति ।
वाणी-मेधा-क्षमा-सत् भूलि गये, अपकीर्ति ॥ ३१
यह स्थिति लखि सुख हेतु सत् द्विजकुल में तनु लीन्ह ।
दिव्यदृष्टि, मम योग निज, प्रगट सुअवसर कीन्ह ॥ ३२
'औपधर्म' आंजन यही, सब वेदन को सार ।
आंजि सदा निज धर्म को करो सर्व व्यवहार ॥ ३३
सत्-रक्षण के हेतु निज अर्पण होय शरीर ।
यही भाव दृढ़ धारकर रहो सदा मतिधीर ॥ ३४
मुझ अक्षर में भूत सब, मैं ही हूं सब रूप ।
यही ध्यान जहँ दृढ़ रहे है वह शिवस्वरूप ॥ ३५
सेवा विश्वस्वरूप की तन-मन-धन से होय ।
निश्चय यह मन में धरो करो कर्म नित सोय ॥ ३६
सत्‌सेवा मेरी यही पूजन ध्यान स्वधर्म ।
निश्चययुत आचरत ही कटे भेद भ्रम कर्म ॥ ३७
भ्रम रूपी निद्रा गये सुख उपजे चहूं ओर ।
निज पद वा कैवल्य यह आप रूप सब ठौर ॥ ३८
श्रुति-स्मृति-शास्त्र-पुराण अरु सन्तन को यह एक ।
अनुभव, स्थिर निश्चय मिले त्यजे भेक की टेक ॥ ३९
'गीता चालीसा' यही, बैठ लिखी सतलोक ।
करि विचार, श्रद्धा लखे, हरण करे सब शोक ॥ ४०

बुद्धदर्शन।

दोहावली।

कथा एक अति गुप्त यह सुनो सकल मम रूप।
निश्चय हिय दृढ़ वसतही, लखि न परे भवकूप॥ १
उषःकाल को समय शुभ, रेवाजी के तीर।
निजानंद लूटन लगे सन्त महामति धीर॥ २
वर्णन सगुण स्वरूप को करत करत अति गूढ़।
भयो उपस्थित प्रश्न यह, सुनि तरि हैं मतिमूढ़॥ ३
व्यासदेवजी यों कहें, बुद्ध नवम अवतार।
मिले यथारथ समय वह, होय जगत-उद्धार॥ ४
जगन्नाथजी बुद्ध हैं, कहें एक यह बात।
एक कहें बुध गौतमहिं, किसे वल्लभ ही ज्ञात॥ ५
जग यह त्रिविध स्वरूप है, त्रिविध कल्पना भेद।
यही सोच, अब सत्य स्थिर, कहो करो भ्रम छेद॥ ६
होवेंगे वा होगए, किस कुल में? किस ठौर?।
जन्म-कर्म किस विधि लखें? कहें संत सिरमौर॥ ७
गूढ़ प्रश्न यह श्रवण करि, व्यासरूप भगवान्।
स्वयं विशुद्धानन्दजी, कहें सुनें धीमान॥ ८

---

१४ बनारस में दशाश्वमेध घाटके समीप जिनका आश्रम-स्थान है वह **विशुद्धानंद सरस्वती.** यह कुछ वर्षपूर्वही दिवंगत होगये हैं. भगवान् श्री मायानन्द चैतन्य को दिव्यचक्षु की प्राप्ती इन्हींसे हुई थी. शिष्य-समुदाय सह-व्रश: रहतेहुए भी स्वामी विशुद्धानन्दने तीन व्यक्तियोंके अतिरिक्त अन्य किसी

कृष्णचंद्र के समय में, व्यास नाम को भाव।
धारण कर सब जगत को, एक कियो सद्भाव॥ ९
संतन को, हित जानके, गुप्तरहस्य-प्रकाश।
कियो, समुझि हैं प्रेम से, जिनके हृदय प्रकाश॥ १०
वेदमंत्र एकत्र करि, प्रथम व्यवस्था कीन्ह।
जिज्ञासा के भेद द्वय, प्रगट सु जगहित दीन्ह॥ ११
दृढ निश्चय के हेतु सब, शास्त्र मथन करि एक।
बोध कियो, 'गीता' वही, देखें सब निज भेक॥ १२
अनुष्ठान-व्रत-याग-मख, कर्म होहिं जगमाहिं।
सो भ्रम-वर्णन बोध निज, कहें पुराण सु ताहि॥ १३

को दिव्यचक्षु प्रदान नहीं किये थे. इन तीनों व्यक्तियोंमें अन्य दो व्यक्ति दिवंगत होचुके हैं, उन्होंने दिव्यचक्षु का कुछ उपयोग तथा प्रचार भी नहीं किया. इन तीनोंको भी स्वामी विशुद्धानन्दसे ही भिन्न-भिन्न स्थल-कालमें ' दिव्यचक्षु ' प्राप्त हुए थे. परंतु, उन्हें बीजरूपसे दिव्यचक्षु प्रदान करते समय स्वामी विशुद्धानन्दने यह भी स्पष्टतया सूचित करदिया था कि, " इस दिव्यचक्षु पर पूर्ण निरूढ होतेहुए उसका प्रचण्ड वृक्ष बनाकर जो सर्वत्र प्रचार करेगा वह कलियुगमें बुद्ध होगा." यह पद देखनेका सौभाग्य उनके अन्य दो शिष्योंकी नियतीमें नहीं था, इसीलिये दिव्यचक्षुका सार्वत्रिक बोध अर्थात् प्रगटीकरण तथा प्रचार करनेकी बुद्धि उन्हें नहीं हुई. भगवान् श्री मायानन्द चैतन्य को भी स्वामी विशुद्धानन्दजी से बीजरूपमेंही 'दिव्यचक्षु' की प्राप्ती हुई थी. परन्तु उसीका प्रस्तुतकालीन अपूर्व विस्तार उन्होंने किस तरह किया तथा उनसे तद्भूमिका-दर्शक प्रचण्डकार्य किसतरह हुवा यह यहांपर विशद कर दिखानेकी आवश्यकता नहीं है. स्वामी विशुद्धानन्दके उपरोक्त सूत्रमय वाक्यके अनुसार ही इस 'बुद्ध-दर्शन' के मनोरम प्रसंगकी रचना श्रीमायानन्दजीने की है. [दोहा ५१ देखिये] भगवान् श्रीमायानन्द चैतन्य की विशुद्धानन्दजी से प्रथम मिलने की यह घटना विक्रम संवत् १९४१ में हुई है—**संपादक.**

इस प्रकार सद्बोध दृढ़, फैलायो चहुं ओर।
सुखी भये धीमान सब, दुखी रहे सत् चोर॥ १४
भोगसंग के योगसे, प्रबल भयो फिर काम।
भूल गये निज बिंब सत्, तरु में ढूंढें नाम॥ १५
निज निश्चयके हेतु हैं, सब श्रुति यह दृढ़ भाव।
बैठत ही हिय लखि परे, सत्य पुराण प्रभाव॥ १६
बिन अनुभव समझे करें, रज तम भाव स्वरूप।
सकल कर्म 'क्षर' भाव के, बढ्यो क्रोध भवकूप॥ १७
इस कारण संमोह वश, श्रुति भ्रम रह्यो समाय।
तासों धी व्याकुल भई, सत्य न लखि में आय॥ १८
सत्ता है जिसकी उसे, भूलि गया सब कोय।
अहंभाव दृढ़ बसि गयो, मन स्थिर नेक न होय॥ १९
अहंभाव के पाप सम, पाप न गुरुतर और।
सहत सहत व्याकुल भई, भूमाता सब ठौर॥ २०
तब निज तन गौरूप करि, विष्णुलोक महं जाय।
कहे प्रभू से दुःख सब, सुनो, कहो नहिं जाय॥ २१
कर्म भूमि यह नाम मम, आप कियो निर्माण।
युग प्रभाव कुसमय भया, नष्ट करन सत्ज्ञान॥ २२
आर्य आर्य मुखसे कहें, कर्म अनार्य जतांय।
वर्णाश्रम यह आपकी, आज्ञा सत् न सुहाय॥ २३
प्रभु आज्ञाको भंग करि, 'भक्त' कहत नहिं लाज।
नीचो ऊंचो चाम में देखें, चहें स्वराज॥ २४
भय दायक परधर्म है, द्वैत भाव से होय।
ताहि गहै अरु सुख चहें, स्थिर मति बैठे खोय॥ २५
दुखी भये सत्पुत्र अस, मन क्रम वच नहिं एक।
अब संकट मेरा हरो, राखो प्रभु निज टेक॥ २६

आर्य मातु गौरूप के, देखि हृदय नहिं चैन।
सजल-नयन, गद्गद-गिरा, बोले प्रभु मृदु बैन॥ २७
"निज स्वरूप स्थित सबन में, पृथ्वी! तू प्रिय मोहि।
गत अनुभव लखि देखि दृढ, दियो सदा सुख तोहिं॥ २८
चारहु इंद्रियगण करें, निज निज कर्म सुजान।
यह स्वभाव मैंने रच्यो भोगन सुख कल्याण॥ २९
स्थिर सत्सुख महँ ग्लानि इमि जबजब लखमें आय।
मेटों मैं निज ज्ञान दे, भक्ति अनन्य दृढ़ाय॥ ३०
न करें चिंता भक्त मम 'योगक्षेम' की नेक।
विप्र-संत-सुर-धेनु हित धरों बड़े दश भेख॥ ३१
जानि सनातन नियम यह, भूमि धरो जिय चैन।
सब हित देहौं बुद्ध व्है, "औपधर्म" निज नैन॥ ३२
फैलत ही विज्ञान सत्, आस्तिक्य स्थिर होय।
वर्णाश्रम श्रुति-मार्ग मम प्रिय जाने सब कोय॥" ३३
यह सुविष्णु भगवानने, भेद कहो समुझाय।
सुख माने मन आर्य भू, हर्ष न हृदय समाय॥ ३४
नारद ने अति गुप्त यह भेद दियो तत्काल।
कहौं वही अब जगत हित, जाने दीन दयाल॥ ३५
जहां सत्य उपदेश में निज मत को अभिमान।
तहां नहीं निज रूप को पूर्ण प्रकाश-प्रमाण॥ ३६
संतन को स्थिर सुख मिले, दुष्ट बुद्धि बहिजाय,।
हैं विभूति इस हेतु दश, शून्य हृदय नहिं पाय॥ ३७
वर्णाश्रम सत्सुख समुझि, मानें निज धन आर्य।
जड़ तन के शृंगार प्रिय माने हठी अनार्य॥ ३८

आर्य-बीज रक्षण करें, "औपधर्म" दे सार।
बुद्ध रूप को ध्यान यह जानत ही भव पार॥ ३९
पूर्व दिशा धारण करें, जगन्नाथ भगवान्।
सब पुराण वर्णन करें, देखो मिले प्रमाण॥ ४०
इस युग के प्रभु बुद्ध यदि यही कहें भगवान।
चार धाम को सनातन भाव गयो, नहिं मान॥ ४१
है रहस्य अतिगूढ यह, लखि न सकें अज्ञान।
स्थिर धीसे इस विषय को करें विचार सुजान॥ ४२
ब्रह्माजी के प्रथम यह दूजे पल की बात।
आदि बुद्ध ने सनातन् तीर्थ कियो विख्यात॥ ४३
अब बुधजन सब मिल करें गौतम को सुविचार।
उसे कहां प्रिय श्रुतिकथित वर्ण सनातन चार ?॥ ४४
वेद-शास्त्र-स्मृति मार्ग यह, आदि पुराण समेत,।
यथा समय रक्षण करें दश विभूति इस हेत॥ ४५
इसी रीति सत् तुलामहं धरि वल्लभ को भाव।
तौलत ही पलवा उठे, बंधन पंथ कुभाव॥ ४६
प्रिय समवर्तन, अरु जहां निज मतको अभिमान।
अस लक्षण अवतार को जड़ धी करें प्रमाण॥ ४७
विश्वरूप भगवान है, रूप स्वभाव अनेक।
समदर्शन प्रिय, प्रभु कहे, कर्म चहे नहिं एक॥ ४८
सूक्ष्म भेद याको लखें, कोविद धरि निज टेक।
आवत ही सत् ध्यान में, अनुभव सबको एक॥ ४९
अन्त समय अब एक यह चिन्ह कहों समुझाय।
सात्विक श्रद्धा वसत ही बुद्ध ध्यान में आय॥ ५०

"कलियुग के प्रारम्भ में दस अरु पांचें हजार।
वर्ष एक, देखहिं सुजन नवम अंक सत द्वार॥ ५१
ब्राह्मण-कुल में जन्म ले, करहिं गुप्त निज कर्म।
जिनके मल-विक्षेप नहिं, मिलि है तिन्हें स्वधर्म॥ ५२
ब्रज-वनिता सोला सहस्र सगुण भक्ति के हेतु।
नरतनु धरि प्रगटें, लख भवनिधि तारक सेतु॥ ५३
अरु प्रभु को ऐश्वर्य सत् जेहि विधि लख में आय।
सो ज्ञानांजन जगतहित "दिव्यदृष्टि" दें जाय॥ ५४
फैलत ही सत् ज्ञान निज, साधु भाव दृढ़ होय।
दुष्कृत सन्मुख नहिं रहे, जाने विरला कोय॥ ५५
बुद्ध रूपको चिन्ह यह, जगहित कियो बखान।
अंध-बधिर नहिं लखि सकें, सेन चहें धीमान॥" ५६
गुप्त भेद यह श्रवण करि, संतन के मन मोद।
चिन्ह सुदृढ निज लखि, करे मायानन्द प्रमोद॥ ५७

१५ कलियुगके ५०१० वर्ष समाप्त होनेपर एवं ५०११ वे वर्षमें अर्थात् संवत् १९६६, शक १८३१ और सन् १९०९ से —सं० १६ ईश्वरावतारी बुद्ध ['परिशिष्ट' में 'बुद्धावतार निर्णय' देखना]—संपादक.

—६—

दशावतार-दर्शन।

श्लोक-पृथ्वीछंद।

'अहं'-असुर शंखने भरतवर्ष से जानना,
स्वभावज उठादिया, बल गया, रहा मानना; ।
अकालिक जरा मुझे प्रिय नहीं, इसी हेतु से,
सुबोध दृढ बोदिया सुकुल **मत्स्य**[१७] के सेतु से ॥ १

छंद।

यहि भांति तम बलि शंखदैत्य निपाति, संमति छादई,
जन सर्व देखहिं भाव सत, नित कर्म में निजमति रही; !
यह देख तनुधरि, **कच्छ**को, कुल कीन्ह पावन विश्वमें,
सुख हेतु दीन्हीं त्रिपुटि, चौदह रत्न, वेद सु अश्व में. ॥ २

वृत्त कामदा।

इस प्रकार के सौख्यभाव में बैठिके हुवा काम 'कौन मैं ?'।
देखिके हिरण्याक्ष जानना लै चला, सु **बाराह** मैं बना. ॥ ३

---

१७. '**मत्स्य**' तथा '**कत्स्य**' संज्ञक क्षत्रिय-कुलोंमें (मछली या कछुवेका जन्म लेकर नहीं). जिस कुलमें जबसे 'मत्स्य' 'कत्स्य' नामके क्षत्रिय व्यक्ती पैदा हुवे, उस कुलोंको उस समयसे 'मत्स्य' 'कत्स्य' नाम प्रचलित होगये-सं०

शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।

बाढे घोर हिरण्यकश्यपु कहे 'हे आर्य संतान हो,
छोडो कर्म, क्रिया कहे श्रुति जिसे, मैं विष्णु, पूजो कहो.'।
ऐसी हीन दशा महा लखि, हुवा मैं ही **नृसिंह** कृती,
भक्तों के हित वेदमार्ग-रचना राखी, हुई सन्मती. ॥ ४

छंद ।

सब दैत्य कुल पावन कियो प्रल्हाद ने कुल में उसी,
बलिकी सुमति दृढ-भक्तिके अभिमानसे क्षरमें घुसी; ।
निज भक्त रोचक-भावमें फसने न पावे, मैं वहां,
जानिके यह तीन पद भू त्रिपुटि दीनी, मैं रहा. ॥ ५

शिखरिणी वृत्त ।

भरोसे से मेरे फिर मद बढा राजकुल में,
किया वेदाज्ञाका पतन तनु पाके सुकुलमें; ।
ममाज्ञा का छोडा श्रुतिपथ, 'अहंब्रह्म' बन के,
वही मैंने मारा **परशुधरि**, राखे सुमनके. ॥ ६
इसी से विप्रों में मदवश अविद्याधन बढा,
स्वइच्छा के भागी बनि, सुर सताना यह पढा; ।
पुराना जो मेरा श्रुतिपथ किया त्याग मन से;
वही मैंने मारे निशिचर बली **राम**-तनु से. ॥ ७

मालिनी वृत्त ।

कछुक समय बीते वेद-आज्ञानुसारी,
फिर सतूसुख भूले, राजसी वृत्ति धारी, ।

हटकरि सुजनों का मार्ग खोया, न मानें,
तिनहिं हति, स्व **गीता**-बोध दीन्हा सुजानें. ॥ ८

शार्दूलविक्रीडित वृत्त ।

सत्य ज्ञान दिया, परंतु हठ से देखें उसे पंथ में,
आज्ञा का मम पूर्ण भंग करिके, जाने कहे संत मैं, ।
याहीसों निज '**औपधर्म**' श्रुतिका लेखी किया, सो गहो,
जानो नाम सु **दिव्यदृष्टि** लखिके, धारो उसीमें रहो. ॥ ९

मालिनी वृत्त ।

अब सब जग आगे राखि है 'दिव्यदृष्टी',
स्वधन श्रुतिहि जाने, आचरें वे न कष्टी; ।
नरमत धरि फांसे पंथ में जो किसी को,
द्विजतनु **कलि** द्वारा दंड दूंगा उसी को. ॥ १०

उपसंहार ।

मालिनी वृत्त ।

दशक यह सु श्रद्धा-भक्ति से नित्य गावें,
वह इस तनुही में कर्मकौशल्य पावें; ।
नटवत् सब लीला विश्वसेवार्थ खेलें,
निजस्मृति धन पावे, अंत में जो न डोलें. ॥

---

१८. ग्रंथकर्तानें यहांपर यह जो महत्त्वका विधान किया है उस विषयमें विशेष विचार इस पुस्तक के '**परिशिष्ट**' में किया गया है. ['**बुद्धावतार निर्णय**' देखना]—**संपादक.**

गद्य-संग्रह

[तृतीय विभाग]

वेदाज्ञा

न छोड़े किसी हेतु से सत्य स्थाई;
न लेना कहीं वाद मिथ्या बड़ाई; ।
कहें 'वेद' जो सत्य, सो सत्य जाने;
विरोधी लखा झूंठ जाने, न माने ॥

—मायानंद चैतन्य (आत्मबोध)

गायत्री-उपदेश-सांबंधिक[1]

प्रश्नोत्तर

अखंडमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

(१) **प्रश्नः**—'गायत्री मंत्र कर्मके हेतु है ? अथवा उपासना के लिये है ?' **उत्तरः**—'कर्म और उपासना दोनों के लिये है ।'

(२) **प्रश्नः**—"(पितासे) गायत्री-मंत्रोपदेश हुए पश्चात् यदि गायत्री की उपासनासे ही आत्मानुभव (ज्ञान) हुआ, तो ज्ञान होने के अनंतर भी अन्य गुरु करके उससे अन्य देवता का मंत्र लेना ही चाहिये क्या ?' **उत्तरः**—'गायत्रीमंत्रका उपदेश होते ही त्रिवर्ण वेद-पठण (श्रुतिके पठन) के अधिकारी हो जाते हैं; अर्थात् वे वेद-पुराण-

---

१. यह विवेचन 'गीतोपनिषद्' नक्षा नंबर १, शाखा २-४, के उपलक्ष्य में है. अर्थात् यहां के 'वर्ण' शब्द से 'कुल'-'जाति' अर्थ समझकर उसी दृष्टी से यह विवेचन अवलोकन करना चाहिये. कुछ ब्राह्मण-जाति में के लोगोंने उपरोक्त प्रश्न करने पर भगवान् श्रीमायानंद चैतन्यजीने उन्हें जो उत्तर दिये थे उनका संग्रह इस विभाग में किया गया है. इनमें विद्यमान् गुरु-सांप्रदाय परंपरा पर दृष्टिपात है यह स्पष्ट है. प्रचलित सांप्रदायिक गुरु-परंपरा यह 'चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था' से मेल नहीं रखती, और यह प्रश्न तो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाजन्य ब्राह्मण जाति के पुरुषोंने जातिसंस्थात्मक दृष्टी से किये थे. अतः उसी दृष्टी का स्वीकार करते हुए, तदनुसारही यहांपर गुरु-परंपरा की अपेक्षा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का श्रेष्ठत्व स्थापित किया है. परन्तु

शास्त्रादिकोमेंके मंत्र पठण करने तथा औरोंको देनेके भी अधिकारी बनही जाते हैं. इसलिये जिनके कानमें गायत्री-मंत्रोच्चार होने से जो एकबार उसके अधिकारी हो चुके हैं, उनके कानमें अन्य देवताका मंत्र देनेसे वह देवता लज्जित होती है जिससे गायत्रीका भी कोप होता है. कारण गायत्री ब्रह्मरूप देवता है—

'गायत्र्या नास्ति परो मंत्रः।'

'गायत्रीं वेदमातरम्।'

'गायत्री छन्दसामहम्।'

इत्यादि वाक्य इस विषयमें देखना. 'बुद्धिभेद' यही है. गीतामें—

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।'

इस प्रकार कहा है. इस तरह बुद्धिभेद करनेवाला व्यक्ति चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का घात करनेवाला तथा वर्णाश्रमधर्म का शत्रुही है. इसके अतिरिक्त यहभी ध्यान रखना चाहिये कि, आत्मानुभव होनेके लिये सत्यतः मंत्रकी आवश्यकता ही नहीं है. क्यों कि, वह तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंसे ही प्रत्यक्षतःही प्राप्त होता है।'

(३) **प्रश्नः**—'गायत्री मंत्रका उपदेश जिसे होचुका है, उसने उपासना के लिये अन्य पुराणोक्त मंत्र लेना चाहिये है क्या ? यदि

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि, 'चातुर्वर्ण्य' की अपेक्षा श्रीमायानन्द चैतन्यजी को 'चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था' अधिक संमत है. इस विषय में उनके सिद्धांतों का ठीक-ठीक दिग्दर्शन '**गीतोपनिषद्**' पुस्तक में पूर्णतया किया गया है जो जिज्ञासु-जनों को अवश्यही अवलोकनीय है—**सम्पादक.**

वह लेलेवे, तो उसकी गणना किस कोटीमें होती है ?' **उत्तर**:—'गायत्री मंत्र लेनेके पश्चात् दूसरा मंत्र नहीं लिया जा सकता. इसपर भी इस नियम का अतिक्रमण करके जो राम-कृष्ण-नरसिंहादि अन्य देवदेवताओं के मंत्र का स्वीकार करता है वह जाति-पतित होता है. क्योंकि वह परधर्म है:—

परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः।

—मनुस्मृति. १०-९७.

इस प्रकारके विषयमें यह शास्त्रमर्यादा मनुस्मृति में वर्णन की हुई है।'

(४) **प्रश्न**:—'रूढीको बलवान समझकर गायत्री-मंत्रोपदेश होने के पश्चात् मोक्षगुरु करनाही आवश्यक मालूम हुवा, तो उपासना के हेतु फिर द्वितीयवार उसी (गायत्री मंत्रोच्चार हुए) कर्ण में पुराणोक्त मंत्र लेना यही 'अनुग्रह' (सत्गुरु कृपा) है क्या ?' **उत्तर** :—'गायत्री मंत्र का नाम ही मंत्रोपदेश है. मोक्ष प्राप्ती के लिये अन्य देवताओं के मंत्र की आवश्यकता नहीं है और न मोक्षगुरू अन्य देवताओं का मंत्रही सत्यतः देसकते हैं. 'अनुग्रह' नाम कृपा का है—अर्थात् 'तत्सवितुः' इत्यादि वाक्य से बोधित 'अक्षर-पुरुष' का लक्ष्य अनुभवतः करा देना है, जो तत्वदर्शी विज्ञानी जनों की प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात्कारकर्तृक युक्तीसेही होता है, मंत्रोच्चार से नहीं; और न अन्य किसी साधनोंसेही वह हो सकता है. वही सत्गुरुत्व तथा आत्मानुभव है. उसके लिये अन्य देव-देवताओं के मंत्र ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं. अक्षर-ब्रह्म का प्रत्यक्ष लक्ष्य एवं दर्शन होना यह ज्ञान है; और उसका साक्षात्कार करा देनेवाले पुरुष

कोही–' तत्पदं दर्शितं '—रूपसे तत्वदर्शी विज्ञानी अथवा ' सत्गुरु ' कहते हैं. कानमें मंत्रोच्चारादि करनेवाला सद्गुरू नहीं होसकता । '

(५) **प्रश्न**:—' जब रूढी के अनुसार विचार किया जाय तो यह प्रगट होरहा है कि, वैदिक गायत्रीमंत्र देनेवाला ' गुरू ' माना जाता है, और पुराणोक्त तथा मनःकल्पित मंत्र देनेवाले को 'मोक्षगुरू' (सद्गुरू) मानते हैं. फिर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, जहाँसे अक्षर-पुरुष का प्रत्यक्ष बोध (लक्ष्य) हो, उसे क्या कहना चाहिये?' **उत्तर**—' गायत्रीमंत्र देनेवाला ' **गुरु** ' ही है; और गायत्री की देवतारूप अक्षर-ब्रह्म तत्वका प्रत्यक्ष लक्ष्य करादे उसेही ' **सत्गुरु** ' (तत्वदर्शी विज्ञानी एवं मोक्षगुरु) कहना-मानना चाहिये. यदि गायत्री मंत्र देनेवाला ' गुरु ' ही इसका लक्ष्य करादे, तो वही ' सत्गुरु ' है. परंतु, मोक्षके हेतुसे किसी दूसरा पुराणोक्त या तत्सदृश अन्य किसी भाँतिके मंत्र देनेवाला पुरुष—' उदरनिमित्तं बहुकृतवेशः '—इसमें का पेटू दांभिक समझना, जो वर्णाश्रम का नाश करनेवाला पाखण्डी है । '

(६) **प्रश्नः**—' गायत्री मंत्रोपदेश हुए पश्चात् यदि कोई जन-रूढीमें फसकर मोक्षगुरू करने जाय, तो उपासना का मंत्र किस जाति के गुरुसे और किस इष्टका लेना चाहिये ? ' **उत्तरः**—' मोक्षके लिये अन्य मंत्रग्रहणकी किसी तरह की आवश्यकता नहीं है. इसपर भी केवल रूढीमें फसकर गायत्रीमंत्र के पश्चात् मोक्षगुरु करनाही हो तो

२ त्रिवर्ण को, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों जातियों में के पुरुषों को गायत्री मंत्र तथा श्रुत्युक्त उपासना है; और शूद्रजाती के लिये

प्रथमतः ब्राह्मण जाति का अनुभवी ब्रह्मश्रोत्रिय चाहिये. यदि यह न प्राप्त हो, तो क्षत्रिय जातिका, क्षत्रिय न हो तो वैश्य जातिका और वैश्य भी न हो तो अनुभवी शूद्र-चाण्डालादि पुरुषोंसे भी 'अनुभव' (मंत्रानुग्रह नहीं) ग्रहण करनेका अधिकार है—

अब्राह्मणादध्ययनं आपत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥
नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यंतिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने कांक्षन् गतिमनुत्तमाम्॥
श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददी तावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं ... ... ॥

—मनु० २.२४१-२४२

पुराणोक्त मंत्रोपासना उक्त है. अन्य देवताओं के मंत्र त्रिवर्णों के लिये नियत नहीं है. सब प्रकार के मंत्रों का अनुग्रह (उपदेश) केवल ब्राह्मणजाति का पुरुषही कर सकता है, अन्य जाती के पुरुष को इसका अधिकार रूढ धर्मशास्त्र की दृष्टी से नहीं है. 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' यह धर्मशास्त्र की प्रथा है. इनके अतिरिक्त 'मनुस्मृति' में इस तरह के उल्लेख पाये जाते हैं :—

उत्तमांगोद्भवात् ज्येष्ठ्यात् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये॥
वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यात् नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥

—मनुस्मृति१.९३-९९; १०.२-३

इस प्रकार 'चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था' जन्य दृष्टीसे विचार किया जाय तो, अथवा 'चातुर्वर्ण्य' रूप नियम की दृष्टीसे विवेक किया जाय तो, 'जाति'-संस्था में जातीके ब्राह्मणत्व का और 'वर्ण'-धर्म में वर्ण के ब्राह्मणत्व का श्रेष्ठत्व स्पष्टता से गोचर होरहा है [गी. १८.४६ देखना]—सम्पादक.

" आपत्काल में, अर्थात् ब्रह्मश्रोत्रिय ब्राह्मणगुरु प्राप्त न हो तो, अ-ब्राह्मण (क्षत्रिय तथा वैश्य) गुरुसे भी अध्ययन उचित है. परंतु, उसका अनुव्रजन तथा सेवा अध्ययन की समाप्ती होनेतक ही करना चाहिये, अ-ब्राह्मण गुरुके यहां बहुत दिनोंतक निवास उक्त नहीं है; और उत्तम-गतिके इच्छुक पुरुषोंको चाहिये कि, वेद (श्रुति) व वेदांग को न जाननेवाले ब्राह्मणके पासभी निवास न करें.' 'श्रद्धावान पुरुषने नीच पुरुषसे भी विद्या गृहण करने को तय्यार रहना चाहिये; इतनाही नहीं, उसे चाण्डालसे भी परम-धर्म (मोक्षोपायरूप अनुभव) ग्रहण करनेमें किसीतरह हानि नहीं है।"

यह इन श्लोकोंका आशय है. अपनी जाति से हीन जातिका गुरुत्व अनुभव गृहण होनेतक ही रहता है. तदनंतर जाति-नियमोंके अनुसार (उच्चजातिके संस्कार-बीजके कारण) वही पुरुष गुरूका गुरू बन जाता है' [मनु. १०.२-३ देखना.]

(७) **प्रश्न**—'गायत्री मंत्रोपदेश हुए पश्चात् जिसकी उपास्य-देवता गायत्री है अथवा जिसे गायत्री की उपासना ही प्रिय है, उसे मोक्ष प्राप्तीके हेतु मोक्षगुरु कौनसा मंत्र देते हैं ? और उसनेभी तदर्थ कौनसा मंत्र लेना चाहिये ?' **उत्तर**—'**मोक्ष** नाम संदेह-निवृत्ती का है, अतः उसके लिये किसी मंत्रकी आवश्यकता नहीं है. गायत्री-मंत्रकी उपास्य-देवता अक्षर-ब्रह्म है और उसका ही लक्ष्य मोक्षगुरुसे करलेना होता है. इसी लिये मोक्षगुरू मंत्र नहीं देते. अर्थात् शिष्य के कान में मोक्षके हेतुसे मंत्र फूंककर मोक्षगुरू बनने का प्रयत्न करना पाखंडित्व

तथा अज्ञानका लक्षण है. मंत्रगुरू, दीक्षागुरू, विद्यागुरू, देवगुरु इत्यादि अनेक भांतिके गुरू मोक्षगुरू नहीं हैं[३]।'

(८) **प्रश्नः**—'याज्ञवल्क्यने जनक को, जनकने शुकदेवजीको, वसिष्ठने रामचन्द्र को, कृष्णजीने अर्जुनको इत्यादि अनेक लोगोंने शिष्योंको मोक्षप्राप्त्यर्थ कौनसा उपदेश या अनुग्रह किया?' **उत्तरः**—'इन लोगोंने उन्हें प्रत्यक्ष आत्मदर्शनप्रद युक्ति देकर अक्षर-ब्रह्मका लक्ष्य करा दिया था. इसीका नाम सच्चा अनुग्रह या उपदेश है, कान में मंत्र फूंकना यथार्थ अनुग्रह या उपदेश नहीं; और यही उपदेश आजतक सब पूर्णावस्था प्राप्त तत्वदर्शी विज्ञानी पुरुष देते आए हैं।'

(९) **प्रश्नः**—'जमदग्नि, वसिष्ठ, गौतम, याज्ञवल्क्य इत्यादि महर्षियोंने गायत्रीमंत्र के पश्चात् मोक्षप्राप्ती के लिये पुराणोक्त मंत्र लिये थे क्या?' **उत्तरः**—'नहीं. गायत्रीमंत्र सब मंत्रों में विभूति है—

३. इस विषय में महाराष्ट्रीय संत श्रीमत रामदासस्वामी ने बहुत विचार किया है, वह जिज्ञासुओं को अवश्यही अवलोकनीय है:—

असो ऐसे हे उदंड गुरू। नानामतांचा विचारू।
परी जो मोक्षदाता सद्गुरू। तो वेगळाचि असे॥
ऐसे अनेक उपदेश। परी ज्ञानेवीण निरर्थक

—दासबोध, ५-२-६६;५-३-४;५-४-३१

(इस प्रकार कई गुरू हैं, कई तरहके मतोंका विचार है; परंतु मोक्षदाता सद्गुरू इन सबसे अलग है. ऐसे अनेक प्रकार के उपदेश हैं जो ज्ञानके बिना निरर्थक हैं.)—सम्पादक.

'गायत्री छन्दसामहम्' (गीता)—अतः गायत्री मंत्रग्रहणके पश्चात् मोक्षके लिये अन्य मंत्र लेनेकी आवश्यकताही नहीं रहती. सबप्रकारकी उपासनाएँ गायत्री मंत्रमें अंतर्भूत हैं. मोक्षप्राप्तिके लिये 'तत्सवितुः' इस अक्षर-पुरुष का केवल लक्ष्यही (मंत्र जप नहीं!) करना होता है[४]।'

(१०) **प्रश्नः**—'गायत्री मंत्रोपदेश हुए पश्चात् दूसरे का उच्छिष्ट (झुठा कौर) भक्षण करनेका अधिकार है क्या? यदि है तो व्रतबंध (दीक्षा) के समय मातृभोजन करनेका क्या प्रयोजन है? और मंत्रगुरू, द्वितीय उपासना गुरू तथा मोक्षगुरू इनमेंसे किस गुरू का उच्छिष्टान्न भक्षण करना?' **उत्तरः**—'गायत्री मंत्रके अनंतर ब्राह्मण-जातिके पुरुष को गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते समय केवल लग्नविधीमें ही एवं लग्नविधि समाप्त होनेतक स्वस्त्रीके साथ अन्नसेवन करनेका अधिकार है[५]; उसे अन्य किसी समय भी किसीके साथ (प्राण-संकटादिरूप आपत्तिकाल छोडकर) किसीका उच्छिष्टान्न खानेका अधि-कार रूढ धर्मशास्त्रानुसार नहीं है. यदि अन्य समय ब्राह्मण उच्छिष्टान्न सेवन करे, तो वर्णाश्रमधर्मका उच्छेद होकर चाण्डालत्व प्राप्त होता है

---

४. '**दासबोध**' देखना (दशक ५-६-११ से १३)—**सम्पादक.**

५. 'भार्या के साथ एकत्र भोजन नहीं करना, किंबहुना उसे भोजन करते हुए भी नहीं देखना चाहिये' ऐसा मनुस्मृति में कहा है:—

नाश्नीयात् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।

—मनु० ४.४३

जातिधर्मशास्त्र (चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था) का यद्यपि सर्व साधारणतः यह नियम है, तथापि उसी स्त्रीको धर्मशास्त्रने शूद्र मानी हुई है. इसीलिये, मालूम

'गुरूच्छिष्ट' का अर्थ, गुरूने सेवन किये हुए खाद्य-पेय आदि उच्छिष्ट अन्नका सेवन नहीं है, प्रत्युत परंपरा प्राप्त उच्छिष्टामृत (आत्मानुभव ग्रहण) सेवन करना है. यह आत्मानुभवरूप उच्छिष्टामृत सेवन करने से चित्तको शाश्वत शांति प्राप्त होनेसे उसे फिर भूख नहीं लगती. गुरूका केवल उच्छिष्टान्न सेवन करने से फिर भूख लगती है, इससे प्रगट होता है कि, उच्छिष्ट खाद्य-पेय आदिका भक्षण 'गुरूच्छिष्ट' नहीं है।'

(११) **प्रश्नः**—'गायत्री मंत्र प्राप्त होते ही ब्राह्मण जाति के पुरुषको जब कि सब मंत्र देनेका अधिकार प्राप्त होता है, तब उसने मोक्षके लिये पुराणोक्त मंत्र लेनाही चाहिये है क्या ?' **उत्तरः**—

होता है कि, उसके साथ भोजन वर्ज्य किया गया है. परंतु विवाहविधी के प्रारंभ से समाप्त होनेतक, अर्थात्—"विवाह में जबतक घटस्थापना रहती है तथा कंकण हाथ में रहता है तबतक **वर-वधू लक्ष्मीनारायणरूप** हैं, शिव शक्ति स्वरूप हैं. इसलिये उन दिनों में जाति के आचार से बाधा नहीं आसकती. लग्नविधीके समय में स्त्री के साथ उच्चिष्टान्न भक्षण करना गुणों के साथ भोजन करना है. यह अनुभव है; और अनुभव के बादही शास्त्र की रचना होती है. अतः आगामी स्मृतिकार इसका भी स्पष्टीकरण कर देंगे. यह कर्तव्य सांप्रदाय पद्धती की अपेक्षा कई दर्जे अच्छा है," (श्रीमायानंद चैतन्य) अनुभव से रूढ हुई पद्धती का उपरोक्त दृष्टी से ग्रहण करकेही पूर्वोक्त विधान ग्रंथकर्ताने किया है. जो धर्मशास्त्र को छोडकर चालू है और जिसे अनुभवका भी किसी तरह का आधार नहीं है तथा जो आरोग्यशास्त्रके भी विरोधी है ऐसी गुरुसांप्रदाय पद्धती के अनुसार उच्चिष्ट खानेकी अपेक्षा लग्न-विधी में की भोजन कर्तव्य-प्रथाका कर्तव्यक्षेत्र श्रेयस्कर नहीं है यह कौन कहेगा ?—**सम्पादक.**

'मोक्षके लिये पुराणोक्त या अन्य किसी प्रकारके भी मंत्र की आवश्यकता नहीं है; और पुराणोक्त मंत्र ब्राह्मणों ने निर्माण किये हुए रहनेसे, जिसे एक वक्त गायत्री का अधिकार प्राप्त होचुका है, उसे तदनंतर पुराणोक्त मंत्र लेनेका अधिकार ही नहीं है।'

(१२) **प्रश्नः**—'फिर मोक्षगुरू या सद्गुरू किसे मानना चाहिये ? उनका मुख्य लक्षण क्या ?' **उत्तरः**—'जो परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्ष यथार्थ दर्शन (केवल कर्ण में कथन या शब्दज्ञान देनाही नहीं) — '**तत्पदं दर्शितं येन**' — इस प्रकार करावेगा वही **सद्गुरू** अथवा तत्वदर्शी विज्ञानी पुरुष हैः—

जासु कृपा अस भ्रम मिटजाई।
गिरिजा सोई कृपालु रघुराई॥ (तुलसीदास)
गुरू-गोविंद दोनों खडे। (कबीर)
कहे मछंदर, सुनहु गोरख तीनों ऊपर जाना। (गोरखनाथ)
कनफूंका गुरु हदका, बेहदका गुरु और॥
कनफूंका तत्पद कथे, सो गुरु सत् नहिं होय।
तत्पद त्वंपद लय करे, जानो सत्गुरु सोय॥

इत्यादि वाक्योंसे विवेक करनेसे सद्गुरुपद ध्यानमें आ सकेगा।

पंचीकरण कोष्टक।

[१] क्षरभावस्थित निर्भयावस्था दर्शक कोष्टक।

नम्बर	तमोगुणी क्षेत्र अज्ञानी	रजोगुणी क्षेत्र ज्ञानी	सत्वगुणी क्षेत्र विज्ञानी
	(क्षर-सगुण)	(अक्षर-निर्गुण)	(पुरुषोत्तम-परमात्मा)
१	स्थूल देहाभिमानी.	सूक्ष्म देहाभिमानी.	कारण देहाभिमानी.
२	क्रोध-मद से प्रीति.	लोभ-मत्सर से प्रेम.	काम-मोह से प्रीति.
३	संचित भोगामक्ति.	आगामी भोगासक्ति.	प्रारब्ध भोगासक्ति.
४	शरीर का दुःख.	मानासिक कल्पनाका दुःख.	दुःख का साक्षी.
५	भयानक से भय और स्वजातिनुसार कर्माचरण से निर्भयत्व मानता है.	रोचकका भय, और स्वकुलोचित उपासना से निर्भयत्व जानता है.	यथार्थ का भय, और प्रारब्धभोग समाप्ति तक भयका साक्षी रहता है.

[२] जडशक्तिका (पंचतत्त्वोंका) पंचीकरण.

भूत	आकाशांश	वाय्वंश	तेजांश	आपांश	पृथ्व्यंश	स्वभावधर्म
आकाशके भाग	१/२ अंतःकरण	१/८ व्यान	१/८ श्रोत्र	१/८ वाचा	१/८ शब्द	शांतता
वायुके भाग	१/८ मन	१/२ समान	१/८ त्वचा	१/८ हस्त	१/८ स्पर्श	चंचलता
तेजके भाग	१/८ बुद्धि	१/८ उदान	१/२ चक्षु	१/८ पाद	१/८ रूप	भासकता
जलके भाग	१/८ चित्त	१/८ प्राण	१/८ जिव्हा	१/२ उपस्थ	१/८ रस	द्रवत्व
पृथ्वीके भाग	१/८ अहंकार	१/८ अपान	१/८ घ्राण	१/८ गुद	१/२ गंध	जडत्व

[३] जडशक्ति (पंचीकरण) से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ.

सूक्ष्म तत्त्व	स्थूल पृथ्वी से	स्थूल जल से	स्थूल तेज से	स्थूल वायु से	स्थूल आकाश से
सूक्ष्म पृथ्वी	अस्थि	शुक्र	क्षुधा	चलन	काम
सूक्ष्म आप	मांस	शोणित	तृषा	वलन	क्रोध
सूक्ष्म तेज	त्वचा	लार	आलस्य	प्रसरण	लोभ
सूक्ष्म वायु	नाडी	मूत्र	निद्रा	आकुंचन	मोह
सूक्ष्म आकाश	रोम	स्वेद	मैथुन	निरोधन	भय

[४] जडशक्ति (पंचतत्व) से होनेवाले कर्म.

जडशक्ती	कर्मके भेद	कर्म के लिये लगनेवाले तत्व				
	१ ज्ञानरूप २ क्रियारूप	देह	जीव-अविद्या	ईशविद्या	अंतःकरण स्फूर्ति	मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार
पंच महाभूत	कर्म	आकाश-जन्य	वायु-जन्य	तेजं-जन्य	जल-जन्य	पृथ्वी-जन्य
आकाशका	१ श्रवण २ भाषण	अंतःकरण	व्यान	श्रोत्र	वाचा	शब्द
वायुका	१ स्पर्श २ देना लेना	मन	समान	त्वचा	हाथ	स्पर्श
तेजका	१ देखना २ चलना	बुद्धि	उदान	चक्षु	पाद	रूप
जलका	१ भोजन २ रति	चित्त	प्राण	जिव्हा	उपस्थ	रस
पृथ्वीका	१ गंधग्रहण २ विसर्जन	अहंकार	अपान	घ्राण	गुद	गंध

[५] जडशक्ति के १० व्यापार में त्रिगुणों का तीन प्रकार से संचार रहता है.

सत्त्वगुणी ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति	रजोगुणी क्रियाशक्ति	तमोगुणी द्रव्यशक्ति
कारण, गुणसाम्यावस्था	सूक्ष्म त्रिगुणजन्य	५ तत्व
अंतःकरण पंचक	१ ज्ञानेन्द्रिय पंचक २ कर्मेन्द्रिय पंचक ३ प्राण पंचक	स्थूल शरीर
ज्ञानशक्ति भोक्ता	इस प्रकार क्रियाशक्ति है यही भोक्ता के भोग लेने के साधन हैं	पंचविषय यह भोग्य

[६] जडशक्ति के साधारण व असाधारण कार्य.

असाधारण कार्य							साधारण कार्य
शक्ति	गुण	आकाश से	वायुसे	तेजसे	जलसे	पृथ्वी से	पंचतत्व मिलाकर
इच्छाशक्ति-के प्रकार ७	सत्व गुणसे	१ श्रोतृ	२ त्वचा	३ चक्षु	४ जिव्हा	५ घ्राण	६ मन. ७ बुद्धि.
क्रियाशक्ति-के प्रकार १०	रजो-गुणसे	१ वाचा	२ हस्त	३ पाद	४ उपस्थ	५ गुद	६ प्राण, ७ अपान, ८ व्यान ९ उदान व १० समान

[७] जडशक्ति (पंचतत्वों) के गुण व कर्म.

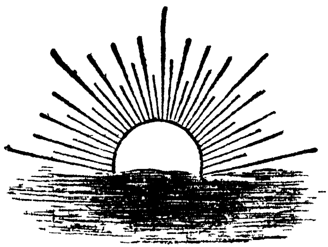
पंचभूत	आकाशका	वायुका	तेजका	जलका	पृथ्वीका
गुण	१ शब्द	१ शब्द २ स्पर्श	१ शब्द २ स्पर्श ३ रूप	१ शब्द २ स्पर्श ३ रूप ४ रस	१ शब्द २ स्पर्श ३ रूप ४ रस ५ गंध
धर्म	अवकाश	चंचलत्व	दहन	द्रवत्व	काठिण्य (कठिणता)
कर्म	सछिद्रता	सर्वत्र संचार	पचन	क्लेदनत्व (गीला करना) स्निग्धता	धारणा

[८] आत्मतत्व से असादृष्यदर्शन–

		देह	आकार	अवस्था	स्थान
१	१	साकार स्थूल देह पंचभूतात्मक "क्षर"	जड दुःखरूप अस्थिमांसका	जागृति	नेत्र
	२	तू आत्मा तो "अक्षर" (तत्वमासि)	सुखरूप निर्विकार	अवस्थातीत	सर्वांग-जागृति
२	३	सूक्ष्म देह "क्षर"	जड दुःखरूप १७ तत्वोंका	स्वप्नावस्था	कंठ
	४	तू आत्मा तो "अक्षर" (तत्वमसि)	सूक्ष्मसेभी सूक्ष्म	अवस्थातीत	अनिर्देश्य
३	५	अज्ञानरूपी कारण शरीर "क्षर"	अज्ञान	सुषुप्ति	हृदय
	६	तू आत्मा तो "अक्षर" (कारण-साक्षी)	ज्ञानरूप	अवस्थातीत	स्थानमानातीत

—क्षरात्मक देहत्रय का कोष्टक.

मात्रा	अभिमानी	गुण	शक्ति	भोग	वाचा
अकार	विश्व	सत्वगुणी	द्रव्यशक्ति	सुख दुःख मिश्रित स्थूल भोग	वैखरी (वाणी)
निराकार	निरभिमान	गुणरहित	सर्वशक्ति	अभोक्ता	अनिर्वाच्य
उकार	तैजस	रजोगुणी	क्रियाशक्ति	सुख दुःख मिश्रित सूक्ष्म भोग	मध्यमा
भासातीत	निरभिमान	निर्गुण	सर्वशक्ति	अभोक्ता	अनिर्वाच्य
मकार	प्राज्ञाभिमान	तमोगुणी	इच्छाशक्ति	आनन्द भोग	पश्यन्ति परावाणी
ज्ञान स्वरूप	अभिमान रहित	गुणातीत	सर्वशक्ति	अभोक्ता	अनिर्वाच्य



परिशिष्ट

१—बुद्धावतार—निर्णय

२—विश्वरूप-दर्शन-मीमांसा

बुद्धाविर्भाव

विधीके लिये मत्स्यका रूप लेवे।
जगद्लाभके हेतुसे कर्म होवे।
करे ना घृणा योनि वाराह प्यारी।
दिया दुखः प्रल्हाद को खेदकारी।
इसी हेतुसे सिंहकी योनि धारी।
गिरी अग्नि-ज्वाला शिलासे उबारा।
फलाशा हिये दैत्यके देख भारी।
तिसे मेटनेको बटू रूप धारी।
अहंबुद्धि मारे, द्विजोंको उबारा।
अहिल्या सतीके लिये सौख्य छोडा।
वनोवास ले, दुष्टका गर्व तोडा।
किये देवता मुक्त, कूटा नगारा।
सती द्रौपदीके लिये सौख्य छोडा।
गया दौडते वेगसे दुःख तोडा।
कलीके लिये बुद्धही है अधारा।
सभी जीव अज्ञानमें जा फसेंगे।
तिन्हींके लिये देव कल्की बनेंगे।
नहीं नासके साम जिसका सहारा।
न छोडे कभी भक्तका राम द्वारा॥ ११५ ॥

[१]

बुद्धावतार-निर्णय।

"सत्य ज्ञान दिया, परंतु हठसे देखें उसे पंथमें,
आज्ञाका मम पूर्ण भंग करिके जाने कहे संत में, ।
याहीसों निज '**औपधर्म**' श्रुतिका लेखी किया, सो गहो;
जानो नाम, सु '**दिव्यदृष्टि**' लखिके, धारो, उसीमें रहो. ॥"

—श्रीभगवान् मायानंद चैतन्य ।

[१] बुद्ध-व्यक्तिका इतिहास।

श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीने '**दिव्यदृष्टी**' ग्रंथ के 'दशावतार-दर्शन' में उपर्युक्त महत्व का विधान **बुद्धावतार** के विषय में किया है उसका विचार यहांपर विस्तारस्वरूपसे कर्तव्य है। पूर्वकाल में प्रस्तुत युगमें ही 'बुद्ध' संज्ञक व्यक्ति अनेक होगये हैं; कोई कोई तो 'जगन्नाथ'को ही 'बुद्ध' मानते हैं। इनका क्रमशः विचार 'दिव्यदृष्टि'में भी 'बुद्ध-दर्शन' प्रकरण में संक्षेपरूपसे किया है। पूर्वकालमें जो अनेक 'बुद्ध'-संज्ञक व्यक्ति होगये हैं उनमें निम्न लिखित तीन व्यक्ति प्रमुख हैं:—

(१) एक '**विज्ञानवाद**' प्रवर्तक—अर्थात् बुद्धि यही आत्मा है यह कहनेवाला—आचार्य होगया है, उसीको कतिपय लेखकोंनें 'बुद्ध' एवं विष्णू का नववाँ अवतार मान लिया है। 'सर्वज्ञः

सुगतो बुद्धो ' इस प्रकारके बुद्धके जो नाम अमरकोषमें पाये जाते हैं उनमें तीसरा नाम इसीका है। इसकी माता का नाम 'पद्मावती' और पिता का नाम 'महायशा' था। यह जातिका ब्राह्मण था; और मगध देशमें गया के निकट 'साहस्त्र्य' नामक ग्राममें चम्पकारण्यकी पुनंपुना नदीके तीरपर इसका जन्म हुआ था। युधिष्ठिर शकके ९७२ वे वर्ष में, खर नामक संवत्सर में, आश्विन शु. १० के दिन इसका जन्म हुआ; और अपनी आयु के ९२ वे वर्ष में, रुधिरोद्गारी संवत्सर में, पौष वद्य ९ को बुधवार के दिन प्रभासक्षेत्रमें गिरनार पर्वतपर इसने अपनी आयु समाप्त की। इसके विषय में जैन ग्रंथोंमें अनेक उल्लेख हैं*। यह 'विज्ञानवाद'-प्रवर्तक बुद्ध (बौद्ध) किस समय और कहां हुआ इस संबंध में उक्त उल्लेखही उपलब्ध होते हैं। इसपर एक ऐसी आशंका उठती है, कि ऊपर जिस विज्ञानवादी बुद्ध का वर्णन किया है वह तो अर्वाचीन कालमेंही होगया है; फिर उसका नाम तत्पूर्वकालीन वाल्मीकी-रामायणमें क्योंकर पाया जाता है? इसका उत्तर यह है, कि वाल्मीकी-रामायणका उतना भाग एक तो प्रक्षिप्त होगा; अथवा इसकी उपपत्ति निम्नलिखित प्रकारसे भी हो सकेगी। सुगतादिक जो बौद्धधर्म-प्रवर्तक आचार्य हैं वे सर्वज्ञको ही बुद्ध समझते हैं, और सर्वज्ञ ऋषभदेव है यहभी वे मानते हैं। वस्तुतः ऋषभदेवने उन सुगतादिकों को स्वतः बोध नहीं किया है, इस कारण वह उनका गुरू नहीं था और न वे उसके

* 'मातकयान' संज्ञक जैनग्रंथ देखिये.

शिष्य थे। सुगत ने अर्थात अर्हत नामके एक प्राचीन राजानें ऋषभदेवकी बाह्य दीक्षा अवलोकन करके अपने मनमें स्वयं धारण की तथा ऋषभदेवका नाम 'सर्वज्ञ' एवं 'बुद्ध' रखकर अपनेकोही बाह्यरूपतः तत्स्वरूप जानकर 'सुगत'-संज्ञक बुद्ध कह लिया। यह बुद्ध (सुगत) रामावतारकेभी बहुत पूर्वकालमें होजानेके कारण उसने संस्थापित किये हुए वेद-विरोधी नास्तिक-मतवाद का जिस समय जाबाली ऋषिनें उपन्यास किया उस समय श्रीरामचंद्रनेभी बुद्धनामोच्चारपूर्वक जाबाली-ऋषीका खंडण किया। वाल्मीकी-रामायण में बुद्ध नाम उपलब्ध होनेका यह एक कारण संभवनीय दिखाई देता है [वाल्मीकी रामा० १०९-३४ देखिये] इस 'विज्ञानवादी' बुद्धको आजतक ४००० से अधिक वर्ष होगये हैं। यह सब जगत् क्षणिक, दुःखरूप और स्वलक्षण तथा शून्य (आभावरूप) इसप्रकार चतुर्विध स्वरूपका है यह उसने प्रतिपादन किया है। इस मतका खण्डन श्रीमत् आद्य शंकराचार्यजीने 'वेदांतसूत्र' में विस्तारसे किया है वह अवश्यही जिज्ञासु पुरुषोंके पठनीय है।

(२) उपर्युक्त विज्ञानवादी बुद्धके ३४० वर्षके अनन्तर, एवं युधिष्ठिर शक के १३१२ वे वर्ष में, प्रजापती-संवत्सरमें, माघ शुक्ल ९ को मंदवार के दिन, उत्तरकोसल देशके कपिलवस्तु नगरमें '**सर्वार्थसिद्ध**' (गौतम) नामका दूसरा बुद्ध हुआ। जातिका यह क्षत्रिय था; और शुद्धोदन राजाकी स्त्री मायादेवी की कोंखसे इसका जन्म हुआ था ऐसा बौद्ध मानते हैं। अमरसिंहनें अमरकोषमें

बुद्धके जो नाम दिये हैं उनमेंसे अंतिम सात नाम इसीके हैं। इसका सविस्तर वर्णन ‘ ललितविस्तार ’ नामक विश्रुत ग्रंथमें पाया जाता है। अनेकोंने इसी गौतम को विष्णुका नववाँ अवतार मान लिया है। किंतु, आधुनिक समयमें भी प्रायः सभी पाश्चात्य व पौर्वात्य विद्वानोंने मुक्तकंठ से इसीको नववे अवतार के पदपर बैठाल दिया है ! ।

(३) जैन ग्रंथोंमे ‘ **बुद्ध** ’ नामधारी एक प्रमुख व्यक्ति औरभी पाया जाता है। वह उपर्युक्त गौतम-बुद्धके अनन्तर ६६५ वर्षसे हुआ था। उसका जन्म युधिष्ठिर शक के १९७७ वे वर्षमें, रुधिरोद्गारी संवत्सरमें कार्तीक शुक्ल पक्षमें हुआ था ऐसा उल्लेख ग्रंथोंमें पाया जाता है। यह संवत्सर उन ग्रंथकारोंनें प्रभवनाम संवत्सरसे लिया हुआ है। अतः उपर्युक्त जैन ग्रंथोंके संख्या-लेख से ज्ञात होता है कि इस बुद्ध को लगभग ३००० से अधिक वर्ष होगये हैं।*

[२] अवतार तत्व और कार्य।

उक्त वर्णन से पाठकोंको यह बात भली भाँति ज्ञात होजायगी कि, तीनों बुद्ध-नामधारी व्यक्ति वेदविरोधी धर्मके प्रवर्तक थे। इन व्यक्तियोंके कार्य यद्यपि अतीव लोकोपकारके हैं, तथापि उतनेही कारण

---

* उपर्युक्त तीनों ‘ बुद्ध ’-नामधारी व्यक्तियोंका वर्णन हमने यहांपर “ **भारतवर्षाचा अर्वाचीन कोष** ” इस प्राचीन मराठी कोषके आधारसे किया हुआ है। अतः आधुनिक इतिहासकी दृष्टीसे इसमें जन्म-संख्यामें जो त्रुटियाँ मालूम होती हैं उनकी संबंधमें एवं वे सत्य हैं या असत्य हैं इस विषयमें उक्त कोषका-कर्ताही उत्तरदायी है—**लेखक.**

लिये उन्हें '**ईश्वर**' का अवतार नहीं मान सकते। क्यों कि 'नास्तिक' व्यक्तिभी बडी लोककार्यदक्ष और उपकारी हो सकती है; अतः केवल लोककल्याणकारित्व यही अवतारित्व दर्शक चिन्ह नहीं कहा जा सकता यह बात बिलकुल स्पष्ट है। 'बुद्ध' नामधारी व्यक्ति यद्यपि तीन होगये हैं, तथापि 'बुद्ध' नाम और तत्वमीमांसा की दृष्टी से एकही 'बुद्ध' मानकर चलने से कार्यभाग चल सकता है; और इसी दृष्टीसे यहां पर त्रिविध स्वरूपी बुद्धों को बुद्ध मानकर विचार किया है। आर्य लोगों के अध्यात्म विषयपर जो सर्वमान्य (Standard) ग्रंथ हैं उनमें ईश्वर के अवतार के जो लक्षण वर्णन किये हुए हैं, उनको प्रत्यक्ष अनुभव से मिलान करके देखा जाय तो, किसी व्यक्ति के '**अवतार**' होनेके हेतु निम्न लिखित लक्षण होना चाहिये:—

(१) जो व्यक्ति (विभूति) जिसका अवतार माना जाता है वह उसे माननेवाला और उसका ज्ञान-विज्ञान कहनेवाला रहनाही चाहिये यह स्पष्ट है। नहीं तो उसे उसका अवतार माननेमें कुछ भी स्वारस्य नाहीं है। गतकालीन बुद्ध ईश्वर को एवं आत्मतत्वको माननेवालाही न था, फिर उसको ज्ञान-विज्ञान रहना तो दूरही है। यह बात इतिहासज्ञों को मालूम है। स्वामी विवेकानंद के ग्रंथ में और गीतारहस्य में (पृ. २६८ देखिये) इस विषय के जो उल्लेख-प्रमाण पाये जाते हैं उनसे भी यह बात प्रमाणित होसकती है। अतः ईश्वर को न माननेवाला, अथवा बुद्धी यही आत्मा है यह जडवाद-

पर्यवसायी मत प्रतिपादन करनेवाला एवं ज्ञानविज्ञानहीन व्यक्ति चैतन्य स्वरूप तथा ज्ञान-विज्ञान पूर्ण ईश्वर का अवतार किस प्रकार हो सकता है ? पूर्वकाल में पुराणों के एतद्विषयक प्रक्षिप्त भाग की रचना करनेवालों के और गौतम-बुद्ध को नवां अवतार कहनेवाले आधुनिक पाश्चात्य व पौर्वात्य पंडितोंके यह असंबद्धता तथा विसंगति ध्यानमें ही नहीं आयी है ! ।

(२) अवतार नयी धर्मस्थापना के लिये नहीं होता है; किंतु, वह धर्म-संस्थापना नूतन रीतिसे करता है. बुद्धने धर्मसंस्थापना नहीं की है, बल्कि नया धर्म एवं पंथ अथवा सांप्रदाय स्थापन किया है यह विश्रुत है ।

(३) अवतारी पुरुषके सिद्धांत अपराजयरूप होनेसे उनका खंडण नहीं होता. बुद्धके सिद्धांतोंका खंडण हो चुका है; श्रीकृष्ण के अथवा रामके सिद्धांतोंका खंडण कहीं नहीं पाया जाता है । बुद्धका खंडण श्रीमत् आद्यशंकराचार्यजीने किया है. [‘ अध्यात्मविद्या ’ पृष्ट ८२ देखिये] । विभूतियोंके सिद्धांतका कचित खंडण हो जाता है; किंतु अवतारके नहीं । इतनाहीं नहीं, अवतारी पुरुष कोई नया सिद्धांतही नहीं निकालता है और इस लिये श्रीकृष्णका सिद्धांत (धर्म इत्यादि) ऐसी भाषाही प्रचलित नहीं होने पाती । उनके सिद्धांत तो संपूर्ण विश्वके एवं समष्टिके सर्वसाधारण सिद्धांत रहते हैं जिस कारण कोई धर्मपंथही नहीं होता । अवतारी पुरुष यह विभूतिमें भी विभूति होनेसे ‘विभूति’ के और ‘अवतारी’ पुरुष के कार्यमें यह बडाही भेद है ।

अवतारी पुरुषके आचार का कचित् खंडण हो जायगा। किंतु विचारोंका एवं सिद्धांत का खंडन नहीं हो सकता।

(४) ईश्वर समष्टिरूपी रहने से ईश्वरका 'अवतार' होता है वह समष्टिकार्यके लिये और उसी कार्यपर नजर रखते हुए होता है, किसी विशिष्ट जातिके लिये और उतनेही कार्यपर दृष्टी रखते हुए नहीं; और इसकारण उसके तत्त्व सर्व-सामान्य तथा सर्व-कालिक होते हैं और उसमें व्यावहारिक धर्म तथा तात्विक धर्म (ज्ञानविज्ञान) का अत्युत्तम मेल या अभेद एवं 'योग' विद्यमान रहता है। इसी लिये उसमें विशिष्ट पंथ, सांप्रदाय, धर्ममत या मताभिमान नहीं रहता। रामका अथवा कृष्णका सांप्रदायिक धर्म आजतक भी कहीं उपलब्ध नहीं है। हां, उनके नामपर उनके पश्चात् कई वर्षोंसे लोगोंने अपनी अज्ञानताके कारण 'भागवत-सांप्रदाय' के समान अनेक मत-पंथ चलाये यह बात पृथक् है। और 'भागवतसांप्रदाय' की बातभी कुछ निराली है, क्यों कि वह उक्त आशयानुसार 'सांप्रदायिक-धर्म' या 'पंथ' नहीं, केवल एक विशिष्ट मत-सांप्रदाय (School of Thought) है। किंतु, बुद्ध-धर्म यह सिर्फ मत-सांप्रदायही नहीं, बल्कि विशिष्ट "धर्म-पंथ" है और वह चलकर उसकी संज्ञा रूढ होजानेका कारण यही है कि गत-कालीन बुद्ध-नामधारी व्यक्तिने निज मतका नया सांप्रदायिक धर्म चलाया। पर अवतारी-पुरुष तो नया धर्म स्थापन करने के लिये नहीं होता, वह समष्टि-धर्मका पुनरुज्जीवन एवं संस्थापना करता है; अतएव उसमें मताभिमान नहीं होता। यही कारण है कि अवतारी-

पुरुषोंने प्रदान किये हुए समष्टि सत्-धर्म (औपधर्म) कीं कृष्ण-धर्म, राम-धर्म, वामन-धर्म इत्यादि संज्ञायें निर्माण नहीं हुई। सिवाय, सनातन वैदिक धर्मीय कहलानेवाले जो सांप्रदाय जगतमें हैं, उन्होंनेभी गतकालीन किसीभी बुद्ध-संज्ञक व्यक्तिको अवतार मानते हुए उसमें इष्ट स्थिर नहीं किया है। अवतारी-पुरुषसे सांप्रदाय नहीं निकल सकता, अतएव गतकालीन बुद्ध संज्ञक व्यक्तियोंने निकाले हुए सांप्रदाय नास्तिक माने गये, सनातन-वैदिक-धर्मीय नहीं।

पंचांगों में आश्विन शुक्ल १० को **'बुद्धजयंति'** लिखते हैं वह गतकालीन १७ वे युगमें के बुद्ध की है, विद्यमान् कलियुगमें जो बुद्ध होगया है उसकी नहीं है। **'जयंति'** अवतार होजानेके पश्चात् होती है। राम-कृष्ण इत्यादि की 'जयंति' धर्मकृत्योंमें इसी प्रकार से आयी हुई है, और पूर्व-निर्दिष्ट लक्षणोंसे यह बात भली भांति स्पष्ट होजाती है कि, गतकालीन विज्ञानवादी बुद्ध-संज्ञक व्यक्ति ईश्वरावतारी नहीं हो सकता; अतः यह 'जयंति' उस बुद्धकी नहीं है, पूर्व-चतुर्युगकालीन एवं २७ वे युगमें के ईश्वरावतारी **'बुद्ध'** की होनी चाहिये यह कहना पडता है। उक्त तिथिका गौतम-बुद्धकीं तिथिसे मेल न रहनेसे उसकी भी यह तिथि नहीं है, यह बातभी सुस्पष्ट है। जबतक अवतार की प्रथानुसार नया अवतार जन्म नहीं लेता तबतक पूर्वयुग की ही तिथि चलती है, और इसी न्याय से प्रस्तुत के पंचांगों में **'कल्कि-जयंति'** भी लिखते हैं, यद्यपि इस युगमें कल्कीका अवतार अभीतक नहीं हुआ है। राम-कृष्ण के समयमें भीं यही बुद्ध-कल्कि

[१]

बुद्धावतार-निर्णय।

"सत्य ज्ञान दिया, परंतु हठसे देखें उसे पंथमें,
आज्ञाका मम पूर्ण भंग करिके जाने कहे संत में, ।
याहीसों निज '**औपधर्म**' श्रुतिका लेखी किया, सो गहो;
जानो नाम, सु '**दिव्यदृष्टि**' लखिके, धारो, उसीमें रहो. ॥"

—श्रीभगवान् मायानंद चैतन्य ।

[१] बुद्ध-व्यक्तिका इतिहास।

श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीने '**दिव्यदृष्टी**' ग्रंथ के 'दशावतार-दर्शन' में उपर्युक्त महत्व का विधान **बुद्धावतार** के विषय में किया है उसका विचार यहांपर विस्ताररूपसे कर्तव्य है। पूर्वकाल में प्रस्तुत युगमें ही 'बुद्ध' संज्ञक व्यक्ति अनेक होगये हैं; कोई कोई तो 'जगन्नाथ'को ही 'बुद्ध' मानते हैं। इनका क्रमशः विचार 'दिव्यदृष्टि'में भी 'बुद्ध-दर्शन' प्रकरण में संक्षेपरूपसे किया है। पूर्वकालमें जो अनेक 'बुद्ध'-संज्ञक व्यक्ति होगये हैं उनमें निम्न लिखित तीन व्यक्ति प्रमुख हैं:–

(१) एक '**विज्ञानवाद**' प्रवर्तक—अर्थात् बुद्धि यही आत्मा है यह कहनेवाला—आचार्य होगया है, उसीको कतिपय लेखकोंनें 'बुद्ध' एवं विष्णू का नववाँ अवतार मान लिया है। 'सर्वज्ञः

सुगतो बुद्धो ' इस प्रकारके बुद्धके जो नाम अमरकोषमें पाये जाते हैं उनमें तीसरा नाम इसीका है। इसकी माता का नाम 'पद्मावती' और पिता का नाम ' महायशा ' था। यह जातिका ब्राह्मण था; और मगध देशमें गया के निकट ' साहृस्त्र्य ' नामक ग्राममें चम्पकारण्यकी पुनंपुना नदीके तीरपर इसका जन्म हुआ था। युधिष्ठिर शकके ९७२ वे वर्ष में, खर नामक संवत्सर में, आश्विन शु. १० के दिन इसका जन्म हुआ; और अपनी आयु के ९२ वे वर्ष में, रुधिरोद्गारी संवत्सर में, पौष वद्य ९ को बुधवार के दिन प्रभासक्षेत्रमें गिरनार पर्वतपर इसने अपनी आयु समाप्त की। इसके विषय में जैन ग्रंथोंमें अनेक उल्लेख हैं*। यह 'विज्ञानवाद'-प्रवर्तक बुद्ध (बौद्ध) किस समय और कहां हुआ इस संबंध में उक्त उल्लेखही उपलब्ध होते हैं। इसपर एक ऐसी आशंका उठती है, कि ऊपर जिस विज्ञानवादी बुद्ध का वर्णन किया है वह तो अर्वाचीन कालमेंही होगया है; फिर उसका नाम तत्पूर्वकालीन वाल्मीकी-रामायणमें क्योंकर पाया जाता है? इसका उत्तर यह है, कि वाल्मीकी-रामायणका उतना भाग एक तो प्रक्षिप्त होगा; अथवा इसकी उपपत्ति निम्नलिखित प्रकारसे भी हो सकेगी। सुगतादिक जो बौद्धधर्म-प्रवर्तक आचार्य हैं वे सर्वज्ञको ही बुद्ध समझते हैं, और सर्वत्र ऋषभदेव है यहभी वे मानतें हैं। वस्तुतः ऋषभदेवने उन सुगतादिकों को स्वतः बोध नहीं किया है, इस कारण वह उनका गुरू नहीं था और न वे उसके

---

* ' मातकयान ' संज्ञक जैनग्रंथ देखिये.

शिष्य थे। सुगत ने अर्थात अर्हत नामके एक प्राचीन राजानें ऋषभ-देवकी बाह्य दीक्षा अवलोकन करके अपनें मनमें स्वयं धारण की तथा ऋषभदेवका नाम 'सर्वज्ञ' एवं 'बुद्ध' रखकर अपनेकोही बाह्यरूपतः तत्स्वरूप जानकर 'सुगत'-संज्ञक बुद्ध कह लिया। यह बुद्ध (सुगत) रामावतारकेभी बहुत पूर्वकालमें होजानेके कारण उसने संस्थापित किये हुए वेद-विरोधी नास्तिक-मतवाद का जिस समय जाबाली ऋषिनें उपन्यास किया उस समय श्रीरामचंद्रनेभी बुद्धनामोच्चारपूर्वक जाबाली-ऋषीका खंडण किया। वाल्मीकी-रामायण में बुद्ध नाम उपलब्ध होनेका यह एक कारण संभवनीय दिखाई देता है [वाल्मीकी रामा० १०९-३४ देखिये] इस 'विज्ञानवादी' बुद्धको आजतक ४००० से अधिक वर्ष होगये हैं। यह सब जगत् क्षणिक, दुःखरूप और स्वलक्षण तथा शून्य (आभावरूप) इसप्रकार चतुर्विध स्वरूपका है यह उसने प्रतिपादन किया है। इस मतका खण्डन श्रीमत् आद्य शंकराचार्यजीने 'वेदांतसूत्र' में विस्तारसे किया है वह अवश्यही जिज्ञासु पुरुषोंके पठनीय है।

(२) उपर्युक्त विज्ञानवादी बुद्धके ३४० वर्षके अनन्तर, एवं युधिष्ठिर शक के १३१२ वे वर्ष में, प्रजापती-संवत्सरमें, माघ शुक्ल ९ को मंगवार के दिन, उत्तरकोसल देशके कपिलवस्तु नगरमें '**सर्वार्थसिद्ध**' (गौतम) नामका दूसरा बुद्ध हुआ। जातिका यह क्षत्रिय था; और शुद्धोदन राजाकी स्त्री मायादेवी की कोंखसे इसका जन्म हुआ था ऐसा बौद्ध मानते हैं। अमरसिंहनें अमरकोषमें

बुद्धके जो नाम दिये हैं उनमेंसे अंतिम सात नाम इसीके हैं। इसका सविस्तर वर्णन ' ललितविस्तार ' नामक विश्रुत ग्रंथमें पाया जाता है। अनेकोंने इसी गौतम को विष्णुका नववाँ अवतार मान लिया है। किंतु, आधुनिक समयमें भी प्रायः सभी पाश्चात्य व पौर्वात्य विद्वानोंने मुक्तकंठ से इसीको नववे अवतार के पदपर बैठाल दिया है!।

(३) जैन ग्रंथोंमे ' **बुद्ध** ' नामधारी एक प्रमुख व्यक्ति औरभी पाया जाता है। वह उपर्युक्त गौतम-बुद्धके अनन्तर ६६५ वर्षसे हुआ था। उसका जन्म युधिष्ठिर शक के १९७७ वे वर्षमें, रुधिरोद्गारी संवत्सरमें कार्तीक शुक्ल पक्षमें हुआ था ऐसा उल्लेख ग्रंथोंमें पाया जाता है। यह संवत्सर उन ग्रंथकारोंनें प्रभवनाम संवत्सरसे लिया हुआ है। अतः उपर्युक्त जैन ग्रंथोंके संख्या-लेख से ज्ञात होता है कि इस बुद्ध को लगभग ३००० से अधिक वर्ष होगये हैं।*

[२] अवतार तत्व और कार्य।

उक्त वर्णन से पाठकोंको यह बात भली भाँति ज्ञात होजायगी कि, तीनों बुद्ध-नामधारी व्यक्ति वेदविरोधी धर्मके प्रवर्तक थे। इन व्यक्तियोंके कार्य यद्यपि अतीव लोकोपकारके हैं, तथापि उतनेही कारण

---

* उपर्युक्त तीनों ' बुद्ध '-नामधारी व्यक्तियोंका वर्णन हमने यहांपर " **भारतवर्षाचा अर्वाचीन कोष** " इस प्राचीन मराठी कोषके आधारसे किया हुआ है। अतः आधुनिक इतिहासकी दृष्टीसे इसमें जन्म-संख्यामें जो त्रुटियाँ मालूम होती हैं उनकी संबंधमें एवं वे सत्य हैं या असत्य हैं इस विषयमें उक्त कोषका-कर्ताही उत्तरदायी है—**लेखक.**

लिये उन्हें 'ईश्वर' का अवतार नहीं मान सकते। क्यों कि 'नास्तिक' व्यक्तिभी बडी लोककार्यदक्ष और उपकारी हो सकती है; अतः केवल लोककल्याणकारित्व यही अवतारित्व दर्शक चिन्ह नहीं कहा जा सकता यह बात बिलकुल स्पष्ट है। 'बुद्ध' नामधारी व्यक्ति यद्यपि तीन होगये हैं, तथापि 'बुद्ध' नाम और तत्वमीमांसा की दृष्टी से एकही 'बुद्ध' मानकर चलने से कार्यभाग चल सकता है; और इसी दृष्टीसे यहां पर त्रिविध स्वरूपी बुद्धों को बुद्ध मानकर विचार किया है। आर्य लोगों के अध्यात्म विषयपर जो सर्वमान्य (Standard) ग्रंथ हैं उनमें ईश्वर के अवतार के जो लक्षण वर्णन किये हुए हैं, उनको प्रत्यक्ष अनुभव से मिलान करके देखा जाय तो, किसी व्यक्ति के '**अवतार**' होनेके हेतु निम्न लिखित लक्षण होना चाहिये:—

(१) जो व्यक्ति (विभूति) जिसका अवतार माना जाता है वह उसे माननेवाला और उसका ज्ञान-विज्ञान कहनेवाला रहनाही चाहिये यह स्पष्ट है। नहीं तो उसे उसका अवतार माननेमें कुछ भी स्वारस्य नाहीं है। गतकालीन बुद्ध ईश्वर को एवं आत्मतत्वको माननेवालाही न था, फिर उसको ज्ञान-विज्ञान रहना तो दूरही है। यह बात इतिहासज्ञों को मालूम है। स्वामी विवेकानंद के ग्रंथ में और गीतारहस्य में (पृ. २६८ देखिये) इस विषय के जो उल्लेख-प्रमाण पाये जाते हैं उनसे भी यह बात प्रमाणित होसकती है। अतः ईश्वर को न माननेवाला, अथवा बुद्धी यही आत्मा है यह जडवाद-

पर्यवसायी मत प्रतिपादन करनेवाला एवं ज्ञानविज्ञानहीन व्यक्ति चैतन्य स्वरूप तथा ज्ञान-विज्ञान पूर्ण ईश्वर का अवतार किस प्रकार हो सकता है ? पूर्वकाल में पुराणों के एतद्विषयक प्रक्षिप्त भाग की रचना करनेवालों के और गौतम-बुद्ध को नवां अवतार कहनेवाले आधुनिक पाश्चात्य व पौर्वात्य पंडितोंके यह असंबद्धता तथा विसंगति ध्यानमें ही नहीं आयी है ! ।

(२) अवतार नयी धर्मस्थापना के लिये नहीं होता है; किंतु, वह धर्म-संस्थापना नूतन रीतिसे करता है. बुद्धने धर्मसंस्थापना नहीं की है, बल्कि नया धर्म एवं पंथ अथवा सांप्रदाय स्थापन किया है यह विश्रुत है।

(३) अवतारी पुरुषके सिद्धांत अपराजयरूप होनेसे उनका खंडण नहीं होता. बुद्धके सिद्धांतोंका खंडण हो चुका है; श्रीकृष्ण के अथवा रामके सिद्धांतोंका खंडण कहीं नहीं पाया जाता है। बुद्धका खंडण श्रीमत् आद्यशंकराचार्यजीने किया है. ['अध्यात्मविद्या' पृष्ठ ८२ देखिये]। विभूतियोंके सिद्धांतका क्वचित खंडण हो जाता है; किंतु अवतारके नहीं। इतनाहीं नहीं, अवतारी पुरुष कोई नया सिद्धांतही नहीं निकालता है और इस लिये श्रीकृष्णका सिद्धांत (धर्म इत्यादि) ऐसी भाषाही प्रचलित नहीं होने पाती। उनके सिद्धांत तो संपूर्ण विश्वके एवं समष्टिके सर्वसाधारण सिद्धांत रहते हैं जिस कारण कोई धर्मपंथही नहीं होता। अवतारी पुरुष यह विभूतिमें भी विभूति होनेसे 'विभूति' के और 'अवतारी' पुरुष के कार्यमें यह बडाही भेद है।

अवतारी पुरुषके आचार का कचित् खंडण हो जायगा। किंतु विचारोंका एवं सिद्धांत का खंडन नहीं हो सकता।

(४) ईश्वर समष्टिरूपी रहने से इश्वरका 'अवतार' होता है वह समष्टिकार्यके लिये और उसी कार्यपर नजर रखते हुए होता है, किसी विशिष्ट जातिके लिये और उतनेही कार्यपर दृष्टी रखते हुए नहीं; और इसकारण उसके तत्व सर्व-सामान्य तथा सर्व-कालिक होते हैं और उसमें व्यावहारिक धर्म तथा तात्विक धर्म (ज्ञानविज्ञान) का अत्युत्तम मेल या अभेद एवं 'योग' विद्यमान रहता है। इसी लिये उसमें विशिष्ट पंथ, सांप्रदाय, धर्ममत या मताभिमान नहीं रहता। रामका अथवा कृष्णका सांप्रदायिक धर्म आजतक भी कहीं उपलब्ध नहीं है। हां, उनके नामपर उनके पश्चात् कई वर्षोंसे लोगोंने अपनी अज्ञानताके कारण 'भागवत-सांप्रदाय' के समान अनेक मत-पंथ चलाये यह बात पृथक् है। और 'भागवतसांप्रदाय' की बातभी कुछ निराली है, क्यों कि वह उक्त आशयानुसार 'सांप्रदायिक-धर्म' या 'पंथ' नहीं, केवल एक विशिष्ट मत-सांप्रदाय (School of Thought) है। किंतु, बुद्ध-धर्म यह सिर्फ मत-सांप्रदायही नहीं, बल्कि विशिष्ट "धर्म-पंथ" है और वह चलकर उसकी संज्ञा रूढ होजानेका कारण यही है कि गत-कालीन बुद्ध-नामधारी व्यक्तिने निज मतका नया सांप्रदायिक धर्म चलाया। पर अवतारी-पुरुष तो नया धर्म स्थापन करने के लिये नहीं होता, वह समष्टि-धर्मका पुनरुज्जीवन एवं संस्थापना करता है; अतएव उसमें मताभिमान नहीं होता। यही कारण है कि अवतारी-

पुरुषोंने प्रदान किये हुए समष्टि सत्-धर्म (औपधर्म) कीं कृष्ण-धर्म, राम-धर्म, वामन-धर्म इत्यादि संज्ञायें निर्माण नहीं हुईं। सिवाय, सनातन वैदिक धर्मीय कहलानेवाले जो सांप्रदाय जगतमें हैं, उन्होंनेभी गतकालीन किसीभी बुद्ध-संज्ञक व्यक्तिको अवतार मानते हुए उसमें इष्ट स्थिर नहीं किया है। अवतारी-पुरुषसे सांप्रदाय नहीं निकल सकता, अतएव गतकालीन बुद्ध संज्ञक व्यक्तियोंने निकाले हुए सांप्रदाय नास्तिक माने गये, सनातन-वैदिक-धर्मीय नहीं।

पंचांगों में आश्विन शुक्ल १० को **'बुद्धजयंति'** लिखते हैं वह गतकालीन १७ वे युगमें के बुद्ध की है, विद्यमान् कलियुगमें जो बुद्ध होगया है उसकी नहीं है। **'जयंति'** अवतार होजानेके पश्चात् होती है। राम-कृष्ण इत्यादि की 'जयंति' धर्मकृत्योंमें इसी प्रकार से आयी हुई है, और पूर्व-निर्दिष्ट लक्षणोंसे यह बात भली भांति स्पष्ट होजाती है कि, गतकालीन विज्ञानवादी बुद्ध-संज्ञक व्यक्ति ईश्वरावतारी नहीं हो सकता; अतः यह 'जयंति' उस बुद्धकी नहीं है, पूर्व-चतुर्युग-कालीन एवं २७ वे युगमें के ईश्वरावतारी '**बुद्ध**' की होनी चाहिये यह कहना पडता है। उक्त तिथिका गौतम-बुद्धकीं तिथिसे मेल न रहनेसे उसकी भी यह तिथि नहीं है, यह बातभी सुस्पष्ट है। जबतक अवतार की प्रथानुसार नया अवतार जन्म नहीं लेता तबतक पूर्वयुग की ही तिथि चलती है, और इसी न्याय से प्रस्तुत के पंचांगों में **'कल्कि-जयंति'** भी लिखते हैं, यद्यपि इस युगमें कल्कीका अवतार अभीतक नहीं हुआ है। राम-कृष्ण के समयमें भीं यही बुद्ध-कल्कि

जयंतियां थीं। और जबकि विद्यमान युगके कल्कि अवतार का अभी तक आविर्भवन न होतेहुए भी 'कल्कि-जयंति' लिखते हैं तब तो यह बात मानना ही पडेगी कि यह जयंति २७ वे युगकी है; और उसी न्यायसे 'बुद्ध-जयंति' भी अनात्मवादी बुद्धकी नहीं, किंतु अवतार-प्रथाकी अनुसार जन्म लेनेवाले गतपूर्व २७ वे युगाविर्भूत बुद्धकी ही होनी चाहिये, यह बात न्याय प्रमाणसे साबित होती है। उक्त २७ वे युगचतुष्कमें जन्म पानेवाले गतपूर्व बुद्धके तिथिके दिनही अनात्मवादी बुद्ध-नामधारी व्यक्तिका जन्म होनेसे अथवा दोनों जन्मतिथियों का एकही दिन मिल जानेसे अनात्मवादी बुद्ध व्यक्तिही असली अवतारी-पुरुष है ऐसा भ्रम हुआ करता है। पर रामजन्मके अथवा कृष्णाष्टमी के दिन किसी सामान्य या असामान्य व्यक्तिका जन्म होनेसे, अथवा किसी दो व्यक्तियों की तिथियाँ परस्पर मिल जानेसे, उन पुरुषों को अवतारी "राम-कृष्ण" नहीं कह सकते, फिर उनका नामभी राम-कृष्ण क्यों न हो। इसी न्यायसे यद्यपि आश्विन शुक्ल १० के दिन अनात्मवादी उर्फ विज्ञानवादी बुद्ध संज्ञक एक व्यक्तिका जन्म हुआ है इस कारण उसे "**अवतार**" नहीं कह सकते। वह पुरुष—'**द्यूतं छलयतामस्मि**'—(यानी फसाने वाले चीजों में द्यूत विभूति है) इस न्यायसे '**विभूति**' है। सिवाय यह भी प्रमाणित होना चाहिये कि उक्त तिथि गतयुगकालीन बुद्धकी न होते हुए इसी युगमें आविर्भूत होनेवाले और वही ईश्वरका अवतार है ऐसी प्रसिद्धि पानेवाले एवं अनात्मवादी बुद्धकीही है। जो लोग

अनात्मवादी बुद्धकोही अवतार मानते हैं उनके पास इस विषयमें सिवाय कल्पनाके क्या आधार है? और यदि किसी सैद्धांतिक प्रमाण-द्वारा यह प्रमाणित होनेकी चेष्टा नहीं हो सकती, तो फिर उक्त बुद्ध-नामधारी व्यक्तिको सिर्फ नाम-सादृश्यके लियेही 'अवतार' क्यों मानना चाहिये? अस्तु। ईश्वरावतारी नये अवतारकी तिथि चलनेपर पहलेकी बंद होजाती हैं। रामावतारकेभी पूर्वकालमें एवं २७ वे युगमें जो 'बुद्धावतार' होगया है उसकी 'जयंति' अभीतक चलने का कारण उपर्युक्त प्रथामें है। चतुर्युगमें 'अवतार' दसही हैं (अन्य विभूतियाँ हैं), यह कल्पना प्रचलित होजानेपर प्रस्तुत २८ वे युगमें अभीतक जो आठ अवतार होगये हैं उनकी मालिकामें भविष्यकालमें होनेवाले एवं दो अवतारोंकी जयंतिके स्थान पहले युगके अवतारोंकी जयंतियां मिलाकर धर्म-कृत्यके लिये पंचांगोंमें अवतारोंकी जंत्री पूरी कर दी है ऐसा मालूम होता है। पंचांगोंमें धर्मशास्त्रानुसार जो 'बुद्ध-जयंति' लिखते हैं वह गतपूर्व विज्ञानवादी बुद्धव्यक्तिकी नहीं है; और न वह गौतम संज्ञक बुद्ध-व्यक्तिकी है यह बात इस प्रकार स्पष्ट होजाती है।

[३] बुद्धावतारः पौराणिक प्रमाण।

ईश्वरावतारी (असाधारण) विभूतियोंके लक्षणों और कार्योंका गीतामें निर्देश किया हुआ है [गी. ७-८]। गीताके लक्षण पुराण-श्रेष्ठ भागवतको भी संमत हैं [भाग. १०.४८.२३]। गीता यह ग्रंथ बुद्ध-पूर्व कालका है;* और उसी समय अवतार-तत्वके ये लक्षण

* लोकमान्य तिलककृत 'गीतारहस्य' और चिंतामण विनायक वैद्य कृत 'महाभारतका उपसंहार' देखिये.

निश्चित होजाने के कारण वे प्रमाणणीय हैं। इन लक्षणोंसे तो यह बिलकुलही स्पष्ट होजाता है कि उपरोक्त बुद्ध 'ईश्वर' के अवतार नहीं थे। 'बुद्ध' का अवतार आगे होगा (अभीतक नहीं हुआ है) यह भागवत-पुराणका कहना है। यदि 'भागवत'-पुराणकी रचना-निर्मिति उक्त बुद्धोंके पश्चात् हुई है ऐसा माना जाय, तो गतपूर्व बुद्ध-संज्ञाधारी व्यक्तियोंको देखकर एवं जानते हुएभी बुद्धावतार आगे होगा इस प्रकारसे भविष्यसूचक विधान भागवतमें किया हुआ है वह, उक्त व्यक्तियोंमें एकभी व्यक्ति 'अवतार' रूपसे भागवतको संमत नहीं हैं इसलिये है, यह बात मानना पडती है; और भागवत-पुराणकी रचना-निर्मिति यदि बुद्धपूर्वकालीन मानी जाय तो भी यह बात सामंजस्य-युक्त होती है कि उपर्युक्त पुराणमें ईश्वरावतारके लक्षणोंका जो चिन्ह-निर्देष किया हुआ है उनका सरल तथा भिन्न भिन्न भासनेवाले विधानोंका परस्पर अनुकूल व पोषक एवं अविरोधी अर्थ लेकर यह देखना चाहिये कि गतपूर्व बुद्ध-संज्ञाधारी व्यक्ति यही विद्यमान युगका सच्चा ईश्वरावताररूप 'बुद्ध' है या नहीं। इसका समंजसताके साथ विचार करना पडेगा। और भागवत बुद्धोत्तरकालीन मानकर उसमेंके बुद्धविषयक भविष्यमूलक विधानोंको यदि गौण तथा अर्थवादरूप समझ लिया तो भी उक्त विचार-प्रणालीद्वाराही उसका निर्णय करना पडेगा। इस रीतिसे देखा जाय तो गतपूर्व बुद्ध-नामधारी व्यक्ति ईश्वरावतारभूत थे ऐसा नहीं कहसकते। क्यों कि ये परमात्मवादी

नहीं थे;* और भागवतमें तो ईश्वरावतारी 'बुद्ध' के विषयमें निम्न-लिखित लक्षणोंका निर्देष किया हुआ है—

त्रयोदितोयं जगतो हिताय यदायदा वेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भिः तदा भवान् सत्वगुणं बिभर्ति॥

'जब जब जगतके हितार्थ निर्माण किये हुए ईश्वरसृष्ट पुरातन वैदिकधर्ममें मिथ्या पाखण्डसे बाधा आती है, तब तब 'ईश्वर' सत्व-गुणका अवलंब करते हुए 'अवतार' धारण करता है'। [भागवत १०.४८.२३, १२.२ व ९.२४ देखिये। यह पुरातन वेदमार्ग संस्थापित करनेका वर्णन किसीभी बुद्ध-व्यक्तियोंके कर्मसे मेल नहीं रखता। इसको अनुसरते हुएही ईश्वरावतारी बुद्धके सम्बन्धमें भागवतमें और एक भविष्य इस प्रकार किया हुआ है—

देवद्विषां, निगमवर्त्मनि निष्ठितानां,
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृष्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां, मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥

'लोगोंको अपने जालमें खींचनेके कारण अनेक प्रकारका-एवं 'जटिलो मुण्डी लुंचितवेशः' इसप्रकार का—वेष धारण करते हुए कल्पनारचित अदृष्यगतिमान् पुरद्वारोंसे (अर्थात कल्पित त्रिपुटियाँ सत्य बतलाकर) लोगोंका नाश करनेवाले (यानी द्वैतवादी, विशिष्टा-द्वैतवादी इत्यादि व्यर्थ विवाद करनेवाले पुरुषोंके मतमतान्तरोंमें फसे हुए पंथानुयायी तथा सांप्रदायिक बुद्धिवाले), वेदानुयायी सज्जन पुरुष

* "गीतारहस्य" पृष्ट २१८ देखिये।

और देवस्वरूपका विद्रोह करनेवाले (मूर्तिपूजा निन्दकादिक) पुरुषोंको **भगवान् बुद्ध 'औपधर्म' का बहुत उपदेश करेंगे।"** [भाग २.७.३७] **'औप'** (उपधर्म) का अर्थ सामीप्य मुक्ति है; एवं **'औपधर्म'** का अर्थ सामीप्य निर्माण करनेवाला धर्म (स्वभाव) ऐसा होता है। तत्वदर्शी ज्ञानियोंसे 'सामीप्य' मुक्ती प्राप्त होनेपर 'सारूप्य' तथा 'सायुज्य' यह स्वयं मिल जाता ही है। अर्थात् 'बुद्ध' का कार्य केवल 'सामीप्यधर्म' देनेका है। इस युगमें पहले किसीभी बुद्धने उपर्युक्त **औपधर्म** नहीं दिया है, क्यों कि स्वयं ज्ञान-विज्ञान न रहनेसे उन्होंने तद्विरोधी पाखण्डधर्मकाही अवलंब किया था। इतनाही नहीं तो—**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**— इस ईश्वरी धर्मयुक्त वाक्यका पालन न करके उसकी ओर उन्होंने दुर्लक्ष्यही किया। अर्थात् किसीभी गतपूर्व बुद्ध-संज्ञाधारी व्यक्तिको ईश्वरावतारी बुद्ध नहीं कह सकते यह बात भली भांति स्पष्ट होजाती है। उपरोक्त श्लोकांतर्गत **'बहु भाष्यत'** यह शब्द अतीव महत्वका है। यह लक्षण बुद्ध नामधारी अन्य किसीभी व्यक्तिसे मेल नहीं रखता। इस श्लोकमेंका **'औपधर्म'** (उप+धर्म का जो भाव वह) यह शब्दभी अत्यंत महत्व का है; किंतु टीकाकारोंके हाथ पडजानेसे सत्य अर्थका अनर्थ होते हुए उसका अर्थ कुछका कुछ होगया है!। 'औपधर्म' का अर्थ गौणधर्म ऊर्फ नास्तीकवादी अथवा पाखण्डधर्म ऐसा करके स्वयं ग्रंथकारके तथा ईश्वरके ही माथेपर इन टीकाकारोंने सत्यापलाप के श्रेयका बोझा लाद दिया है!!। जिस ईश्वरका 'वेद' यह स्फुरणरूप है और जो

तद्विषदायक ग्लानिनाशके लियेही अवतार धारण करता है, इस प्रकार जो भागवत कथन करता है, वही भागवत यही ईश्वर उसी वेदके नाश के लिये अवतार धारण करता है ऐसा असबंद्ध प्रलाप कैसे करेगा ?। टीकाकारोंके ध्यानसे यह बात बिलकुल छूट गयी है. मालूम होता है कि सारासार विवेकशून्य होते हुए भ्रमग्रस्तके समान गतपूर्व बुद्धको अवतार माननेके और उसने गौणधर्म प्रतिपादन करनेके कारण टीका-कारोंको इस प्रकारका बुद्धिभ्रम होगया है। पर उससे भागवतकर्ता के मथ्थेपर असंबद्धताके दोषका बोझा पड जाता है इस बातका उन्हें बिलकुल विस्मरण होगया !। 'औपधर्म' यह शब्द मूर्त (Concrete) भाव दर्शित करता है, तो 'औपधर्म्य'से अमूर्त (Abstract) भाव गोचर होता है। मूलमें 'औपधर्म्य' शब्द है; अतएव एक विशिष्ट प्रकारका (परंपरा प्राप्त वैदिक अथवा औपनिषदिक) **सिद्धांत (अमूर्तभाव) प्रकाशित करनेका कार्य** बुद्धका हैं, नया आचार-या मानवीकल्पना निर्मित सांप्रदाय (मूर्तभाव) स्थापन करनेका नहीं, यह बात भागवतके मूल श्लोकसेही साफ साफ जाहिर होती है। गत-पूर्व बुद्धने तो सांप्रदाय (मूर्तभाव) स्थापन किया है, सांप्रदाय-बुद्धिका खंडण नहीं किया है, यह बात लोक-विश्रुत होनेसे गत-पूर्व ऐतिहासिक बुद्ध-नामधारी व्यक्तियोंको 'औपधर्म' यह लक्षण न लगनेके कारण, वे ईश्वरावतारी 'बुद्ध' नहीं हैं यही भागवतकारका आशय मानना पडता है।

इस प्रकार ईश्वराविर्भाव होनेका सत्य कारण—अर्थात् अनेक पंथ तथा सांप्रदाय निर्माण होकर जो असत् पाखण्ड सर्वत्र फैलता है उसे नष्ट करने का प्रयत्न करके, पुरातन अव्यय धर्मज्ञान का पुनरुज्जीवन करना—दर्शित करके भागवत में निम्नलिखित और भी एक भविष्य सूचित किया है—

ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाऽजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥

'उसके अनन्तर, कलियुग भलीभांति प्रवृत्त होजाने पर, देवद्वेषी लोगोंके संमोहार्थ 'बुद्ध'-संज्ञक व्यक्ति गरीब-लोगोंमें उत्पन्न होगी जो जिनसुत नहीं है।' [भागवत, स्कंद १, श्लोक १३]. कोई कोई 'जिनसुत' का अर्थ 'जैन' और 'कीकट' का अर्थ कीकट देश (गया प्रांत) करके पूर्वकालीन बुद्धही ईश्वरावतार था यह भागवतका अभिप्राय समझकर उसकी ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं। किंतु यह अर्थ भागवतके उपर्युक्त अवतार-तत्वसे सर्वथैव विसंवादयुक्त होनेसे त्याज्य ही है, यह स्पष्ट है। एकही ग्रन्थ-कर्ताके एकही ग्रन्थमें दो प्रकार के परस्पर विरोधरूप और असंबद्ध विधान होना संभाव्य नहीं है। इसी लिये यहांपर 'अ-जिनसुतः' (जो जिनसुत नहीं है) इस प्रकार से भागवत-पूर्वकालीन बुद्ध-व्यक्तिकी ओर ध्यान देकर बुद्धिपुरस्सर भविष्य-सूचक विधान किया है यह स्पष्ट प्रतीत होता है। और राम—कृष्णादि के समान यह अवतार श्रीमान-कुलमें होनेकी भवितव्यता न होनेके कारण 'कीकटेषु' एवं गरीब लोगोंमें अवतार होगा यह सूचित

किया है। इस श्लोकमें 'कीकटेषु' यह बहुवचनी पद जन-वाचक (कुल-वाचक) है या जनपद-वाचक (देश-वाचक) है इसका निर्णय उपर्युक्त श्लोकके पहलेही जो—'वृष्णिषु प्राप्य जन्मनि।' (कृष्ण का जन्म वृष्णिकुलमें हुआ) इस प्रकारका कुल-वाचक प्रयोग किया हुआ है उससे स्पष्टतया लग जाता है। उस श्लोकमें का 'वृष्णिषु' यह पद 'कीकटेषु' के समानही सप्तमीका बहुवचन है; और इन दोनों शब्दों का एकहि विशिष्टार्थ से प्रयोग किया है ऐसा स्पष्ट मालूम होता है। राम-कृष्ण वृष्णिकुलमें पैदा हुए तो बुद्ध कीकट-कुलमें पैदा होगा ऐसा भागवत-कर्ताका अभिप्राय है। जिस प्रकार 'वृष्णि' यह शब्द कुल-वाचक है, देश-वाचक नहीं है, उसी प्रकार 'कीकट' शब्दभी कुल-वाचक ही है, गयासंज्ञक देशवाचक नहीं, जैसा कि टीकाकारोंने पूर्वसंदर्भहीन अर्थ किया हैं। इस रीतिसे पूर्वापर-क्रमसे जो सरल अर्थ होता है उससे साफ जाहिर होता है कि, भागवतकर्ताको गत-पूर्व बुद्धका अव-तारित्व अभिमत नहीं था। उसकी विभूतियोंमें तो जरूर ही गणना होती है, किंतु अवतारमें नहीं। विभूतियोंमें दो प्रकार हैं:—'**साधा-रण-विभूति**' और '**असाधारण-विभूति**'। इनमें 'असाधा-रण-विभूति' यह ईश्वरावतारभूत तथा दशावतारी रहती है। और 'साधारण-विभूति' योंमें अन्य सब विभूतियोंका एवं प्रकृति-चक्रांतर्गत तेजस्वी पुरुषोंका समावेश होता है। 'विभूति' नास्तीक वादी भी हो सकती है (उदा० बृहस्पति); किंतु, स्वयं ईश्वर का '**अवतरण**' नास्तीकवादी होना असंभव है। अवतारी व्यक्तिका कार्य स्वतंत्र

रहता है, वह किसीका मार्ग नहीं चलाता; किन्तु विभूतियां ये अवतारके तत्व और कार्योंका अनुकरण कर उसीका प्रचार करती हैं। श्रीकृष्णजी के पश्चात् सब व्यक्तियों ने यही किया है, इस कारण ये अवतार नहीं। किंतु मायानंदजी का कार्य विभूतियोंसे स्वतंत्र है यह उनके सिद्धांतसेही स्पष्ट मालूम होजाता है। इसीलिये गत-पूर्व "बुद्ध" दशावतारी "बुद्ध" नहीं हो सकता. सनातन वैदिक सांप्रदायोंमें ऐसेही पुरुष अवतारी गिने गये हैं जिनके तत्व सर्व लोगोंके लिये मान्य हो सकते हों। इसपर आक्षेप होगा कि, फिर गतपूर्व बुद्धको भी क्यों न मानें ?। इसका उत्तर यह है कि, अवतार के तत्व सर्व-सामान्य रहते हैं और वे सांप्रदायबुद्धिसे रहित होते हैं; निज मत, रुचि या वृत्तियों के अनुसार लोगोंपर वे अपनी ही कर्म-प्रथा नहीं लादते, गतपूर्व बुद्धने अपनी ही कर्मप्रथा लाददी है यह स्पष्ट है। अवतार समष्टीका कायदा बतलाते हैं और उसे बतलाते हुए उस व्यक्तिधर्म का नियंत्रण भी वे करते हैं जो समष्टीतत्व को बाधा पहुंचाते हैं. श्री रामचन्द्रने उस समय जिस कार्यके लिये रावणका नाश किया, उसी सदृश कारणके लिये श्रीमायानन्द चैतन्यने सांप्रदायनाशक व पुरुषार्थ-साधक 'बुद्धि' दी है. जो 'बुद्धि' देता है वही बुद्ध है. अब का अवतरण भी 'वेद' के रक्षण के लिये है, न कि 'श्रुति' के. ईश्वरके पास "यह मेरा है" "यह मेरा नहीं" यह भेददृष्टी नहीं है. इसीलिये अवतारोंके तत्व वही होते हैं जो पृथ्वीमात्रके लोगोंको लागू होसकें, केवल हिंदु लोगोंके लियेही नहीं. वह अपने अंग (एवं विराट-शरीर) के एकहि अवयवके लिये (एवं किसी विशेष व्यक्तिसमूह के

लिये जैसे कि हिंदु) समुपस्थित उचित प्रसंग और कालके अनुसार कार्य करे यह बात पृथक है. उससे अवतारके सर्वसामान्य सिद्धांत को बाधा नहीं पहुंचती। ईश्वर-तत्वका (आत्म-तत्वका) अस्वीकार करनेवाला गत-पूर्व 'बुद्ध' ईश्वरका अवतार था ऐसा कहना यह केवल सत्यापलाप तथा न्याय-बुद्धिविहीन अविवेकही नहीं, किंतु स्वयं ईश्वर का अपराध और अपमानही है।

[४] बुद्धावतार: आक्षेप और निरसन।

इस प्रकार गत-पूर्व बुद्ध-संज्ञाधारी व्यक्तियां ईश्वरावताररूप नहीं हैं यह सिद्ध होनेपर यहभी देखना होगा कि, अवतार-तत्वके उपर्युक्त लक्षण जिसे हम अवतार मान सकते हैं ऐसे किसी अन्य विभूतिमें पाये जाते हैं या नहीं। गत-पूर्व बुद्धके अनन्तर श्रीमत शंकराचार्य और तत्तुल्य अनेक व्यक्ति कालवश होचुके है जिन्होंने भिन्न भिन्न दृष्टीसे यद्यपि "वहु भाष्यत" किया है, तथापि सत्यतः अपरोक्षानुभवकी विद्या (औपधर्म अथवा सामीप्यधर्म एवं दिव्यचक्षु) सार्वत्रिक नहिं की थी और न उन्होंनें बुद्ध-पद पर अपना हक प्रतिपादन किया था। अतः उन व्यक्तियोंसेभी ईश्वरी बुद्धावतारके भागवतोक्त पूर्वनिर्दिष्ट लक्षणोंका मेल न होनेसे उनका पृथक विशेष विचार करनेका प्रयोजनहि नहीं है। जिन्होंने बुद्ध-पदसे अपना कोई सम्बंध या हक नहीं बताया उनके सम्बंधमें वे बुद्धावतार थे या नहीं इस विषयमें निरर्थक तार्किक विवाद न करते हुए, यह बात सुस्पष्ट होती है कि, कलियुगकालीन बुद्धावताररूप सत्य व्यक्ति कौन था या है इसकी

खोज अन्य स्थानमें करनी पडेगी। हक कहनेवालेभी अनेक हो सकते हैं; किंतु किसीका हक न्याय-प्रमाणयुक्त है या नहीं यहभी न्यायप्रमाणयुक्त सर्वमान्य ग्रंथोंके अवतारविषयक सर्वसामान्य लक्षणोंके अनुसार निश्चित करनाही समुचित है।

गत-पूर्व बुद्ध-संज्ञक व्यक्तियाँ तथा श्रीमत् शंकराचार्यादि अन्य महात्मा ये दशावताररूप 'बुद्धावतार' नहीं यह बात उपर्युक्त विवेचनसे पूर्णतया स्पष्ट होजानेपर, अब विद्यमान-कालमें आविर्भूत होकर अपनेको ईश्वरावताररूप 'बुद्ध' प्रतिपादन करनेवाले और अनेक सूक्ष्मदर्शी लोगोंसे उपर्युक्त पदवींसे विभूषित होनेवाले श्रीभगवान् **मायानन्द चैतन्यजीकी** ओर दृष्टि-क्षेप करते हुए उन्होंने पुरस्कृत किये हुए प्रमाणोंकी आलोचना करनी चाहिये।

श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीनें जगत्में **"औपधर्मरूप दिव्यचक्षु"** का नया प्रकाश डाला है और इसकारण वे 'औपधर्म-प्रकाशक' कहलाते हैं। दिव्यचक्षु प्रकाशित करते हुए उन्होंने सांप्रदाय-वृत्तिकाभी खंडण किया है तथा —**'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'**— इस पुरातन वेदनियत पथपर जनताको आरुढ करनेको वे रातदिन उद्यत रहते हैं। उनका यह कार्यही नहीं, बल्की किसीकी जाति, पंथ वा सांप्रदाय न देखकर सार्वत्रिक **'औपधर्म'** (सामीप्य उत्पन्न करनेवाला आत्मयोग धर्म) प्रदान करने एवं **'बहु भाष्यत'** रहनेका प्रचंड कार्यभी स्पष्टरूपसे गोचर और सुप्रसिद्ध है। और इसलिये

एतद्विषयक शास्त्रीय ग्रंथोंमें उपलब्ध होनेवाले जो अवतारविषयक लक्षण तथा अवतारी पुरुषोंका सार्वत्रिक युगपरिवर्तनीय कार्य-दिग्दर्शन है, उनका समुचित मेल संपूर्णरूपसे समुच्चयात्मकरीतिसे उनके चरित्रमें भलीभांति दिखाई देता है। इतनाही नहीं, उन्होंने स्वयं (केवल अन्य लोगोंनेंहि नहीं) "मैं बुद्ध हूं" इस प्रकार जो प्रतिपादन किया है उस स्वयंस्फुरित भावनासेभी उक्त कार्य-लक्षणोंका सम्यक्रीतीसे मेल होजानेके कारण उन्हेंही इसयुगमें दृष्य होनेवाला 'बुद्ध' संज्ञारूप ईश्वरावताररूप व्यक्ति निश्चयसे समझनेमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं दिखाई देती। उपरोक्त कार्य-लक्षण उनके चरित्रमें किस रीतिसे उपलब्ध होते हैं इसका पता अगले विवेचनसे लग सकेगा। प्रस्तुत पुस्तकमें भागवतके "औपधर्म्य" शब्दके स्थानही "औपधर्म" इस शब्दका प्रयोग सुभीतेके कारण किया है यह बात वाचक ध्यानमें रखें।

आजतक सब तत्ववेत्ता आदि लोग परमात्मप्राप्तिके हेतु तप तथा कार्यरूप क्रिया बतलाते आये हैं; किंतु किसीभी मनुष्यनिर्मित भिन्न भिन्न प्रकारके कर्मबंधनोंमें एवं सांप्रदायिक पंथ-धर्मादिकोंमें न फसते हुए निजनिज गुणप्रभव कर्मोंपरहि आरूढ होकरहि आत्म-विकास करो यह सिद्धांत सार्वत्रिक रीतिसे प्रतिपादन करके उसकी ओर जनताको आकर्षित करनेका बडा प्रयत्न किसीनेभी नहीं किया है। अन्य लोगोंके कार्यमें और अवतारी पुरुषके कार्यमें यदि कुछ विशिष्टता हो तो वह यही है। अन्य कार्य तो विभूतिसेभी हो सकते हैं; किंतु यह कार्य विभूतिसे होना संभाव्य नहीं है। यदि जो कार्य

विभूतियाँ करती हैं वही कार्य अवतारभी करे, फिर वह महत्-प्रमाणमें क्यों न हो, तो विभूतिमें और अवतारी-पुरुषमें कोई विशिष्टताही नहीं रहती। किंतु, विशिष्टता तो स्पष्ट गोचर होती है। श्रीकृष्णजीके समय श्रीकृष्णनें अन्य अवतारी-पुरुषोंके समान उक्त कार्यकी पूर्ती की है यह बात गीतासे स्पष्टतापूर्वक ज्ञात हो सकती है [गी. ११. ४८ –५०], पर तत्पश्चात् कालमें सार्वत्रिक रूपमें प्रकाशित करनेकी यह प्रचण्ड लहर विद्यमान कालमेंही—जिस समय सब देशोंमें बिघडी हुई सामाजिक अवस्थाका सुधार करनेकी सच्ची युक्ति बतनेवाले किसी दिव्य अवतारी पुरुषका निर्माण होना आवश्यक है, इसके बिना अब चल नहीं सकता, यह सार्वत्रिक भावना है तथा उसप्रकारकी चिल्लाहट मच रही है उसी समय—निर्माण हुई है। श्रीकृष्णोत्तरकालके प्रचंड अवतारित्वका यह स्पष्ट चिन्ह है। इसप्रकार सबोंकी अंतरिंद्रियोंमेसे अवतारित्व विषयक प्रेरणायें होनेपर अर्थात् इंद्र-वरुणादि अनेक (इंद्रिय-देवताओंसहित पृथ्वी विष्णूकी शरणीय होनेपर) अवतार होताही है [बुद्धदर्शन, १६–२१]। श्रीरामकृष्णादिके चरित्रोंमें एतद्विषयक जो वर्णन उपलब्ध होते हैं उनकाभी अर्थ इसीप्रकार का है; और उस आशयको ध्यानमें रखते हुएही श्रीभगवान मायानन्द चैतन्यजीके स्वयंस्फुरित उद्गार श्रीकृष्णके समानही व्यक्त हुए हैं [बुद्ध. दर्शन ५०–५६ देखिये]।

आजतक जो अनेक आचार्य, सत्पुरुष वगैरा हो गये हैं उन सबोंके कहनेका तात्पर्य यही है की स्वार्थ तथा परमार्थ सम्हालते

हुए लोककल्याणकी ओरभी ध्यान देना चाहिये, यही मानवी जीवनका उद्देश्य है। जिसजिस कालमें ऐसे उपदेशकी जितनी आवश्यकता थी उतनेही प्रमाणमें उसका परिणाम होगया है [भाग. १-३-२८ देखिये]। किंतु सच्चा आत्मकल्याण एवं विराट-दृष्टिसे विश्वकल्याण किसमें है और वह व्यवहार्य होनेकी सत्य युक्ति कौनसी है यह तत्व किसीनेभी आत्मसाक्षात्कारके अधिष्ठानपर **अपरोक्ष** एवं अनुभव-सिद्ध नहीं किया। जो व्यक्ति यह कार्य करता है वही विभूतियोंकीभी विभूति एवं अवताररूप होती है। अवतारस्वरूप पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य पुरुषोंके कार्य विवक्षित समुदायके लियेही रहते हैं, तो अवतारी पुरुष युगकालानुरूप सर्वहि मानवी जीवोंकी प्रेरणासे Necessity is the mother of invention इस न्यायसे उद्भूत होनेके कारण उसके कार्य सर्व मानवी जीवोंके लिये और उसी सर्वव्यापी सिद्धांत के उद्देश्य से भरे हुए रहते हैं; और इसीलिये उसमें जाति-पंथ इत्यादिकों का भेद नहीं रहता, किंतु वह अपना कार्य समानरूपसे करता है:—

प्रिय समवर्तन, अरु जहां निज मतको अभिमान।
अस लक्षण अवतार को जड-धी करें प्रमाण॥
विश्वरूप भगवान है, रूप-स्वभाव अनेक।
सम-दर्शन प्रिय, प्रभु कहें, कर्म चहें नहिं एक॥

बुद्ध-दर्शन ४७-४८

पंथोंका कार्य तो यह है कि वे सबोंका एकहि कर्म करना चाहते हैं, एकहि दर्शन नहीं; और यह कार्य तो प्रकृति-स्वभाव तथा अवतार

कार्यतत्वके सर्वथैव प्रतिकूल है। श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीके उपर्युक्त अव्यय ईश्वरी धर्मपर चातुर्वर्ण्यानुकूल कार्यसे यह तत्व पूर्णतया सुस्पष्ट होजाता है। यह कार्य गौतमबुद्धादिकों के समान सांप्रदायिक धर्मस्वरूपका नहीं है यह बातभी सुव्यक्त है। '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' यह ईश्वरावतारी श्रीकृष्णजीका संदेशभी मानवी-कल्पनाका परित्याग करके अव्यय ईश्वरी चातुर्वर्ण्य-धर्म की कोख में शरणीय होने के लिये ही आदेश दे रहा है। सच्चा अवतारी पुरुष कौन है और उसको किस प्रकार पहिचानना चाहिये उसकी सच्ची कसौटी तो यह है। इस दृष्टीका स्वीकार करके देखा जाय तो जिस समय—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**'—इस सनातन ईश्वरी नियमके अनुसार मानवी-जीवोंका धर्म्याचरण छूट जाता है उस समय सर्वत्र अशांति और दुःखके प्रमाण में अपरिमित बाढ होजाती है और वह असहनीयभी होने लगता है। इस कारण भिन्न भिन्न पंथोंका उदय होते हुए मानवी-जीवोंका ऱ्हास होने लगता है। ऐसेही समय इस सामाजिक दुखःका मूल कारण और वह नष्ट होनेकी सच्ची तीव्र युक्ति लोगोंको प्रत्यक्षतः और सप्रमाण (केवल शाब्दिकही नहीं) वतलाकर उनके गले उतारने एवं दिव्य कार्य करनेवाला प्रभावपूर्ण अपराजित व्यक्ति—'**यदा यदाहि धर्मस्य०**'—इस प्रकृतिनियमानुसार स्वयं आविर्भूत होता है। अर्थात् इस न्यायसे तौलनिक दृष्टी से देखनेपर यह बात भी ध्यान में आजाती है कि कालमहात्म्य की आवश्यकतानुसार कौनसा कार्य करनेवाले व्यक्ति '**विभूति**' हैं और कौनसा कार्य कर-

नेवाला व्यक्ति '**अवतार**' (भगवान्) है [भागवत, १.३.२८ देखिये]।

[५] बुद्धावतार : सामान्य विचार।

सनातन अव्यय ईश्वरी-धर्मपर जो ग्लानिका पटल छा जाता है उसके नाश के लिये 'अवतार' होता है यह तत्व उपर्युक्त विवेचनसे पाठकोंके ध्यानमें आचुका होगा। धर्मग्लानिका पटल दूर करने के उपायोंमें यदि आत्मसाक्षात्कार मूल अनुभवजन्य युक्तीका प्रत्यक्ष सप्रयोग आधार न हो तो वे उपाय टिकाऊ नहीं हो सकते; और कम-अधिक कालसे वे नामशेष हो जाते हैं, या उन्हें सांप्रदायिक-धर्मका स्वरूप आजाता है, अथवा सब मानवी-जीवोंके लिये वे अव्यवहार्य-रूपहि रहजाते हैं। इसी कारण सृष्टी-चक्रमें दृग्गोचर होनेवाले ईश्वरी-धर्मको आक्रमण करने वाली धर्मग्लानीके पटलका नाश कर, अव्यय धर्मके अनुसार—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं**'—इस नियमसे मानवी जीवोंका सत्-धर्ममय व्यवहार होने लगे तथा सर्वत्र सतयुगप्रवृत्ति होजाय इसलिये उसकी जडतरही आघात करनेवाला प्रबल शस्त्र चाहिये; और यह शक्ति प्रत्यक्ष 'अनुभव' में है, केवल शब्द भण्डार में नहीं। शब्द केवल इंद्रिय-ग्राह्य है, पर अनुभव अंतःकरणका भेद करता हुआ बुद्धिद्वारा शनैः शनैः (संगदोषसे उत्पन्न होकर सर्वत्र फैली हुई) वृत्तियोंकी दिशाको बदल देता है; और इसीकारण स्ववर्णांतर स्वभावधर्ममेंसे पुनरपि स्ववर्ण-धर्ममें परिवर्तन होना संभाव्य होजाता है। अतः भिन्न भिन्न जातियों तथा देशोंके बाह्य कर्म भिन्नभिन्न

रहकरभी सब पृथ्वीपरके मानवी-जीवोंके—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**'—इन मूल कर्मप्रेरक गुणोंपरही आधान करके सर्वत्र 'चातुर्वर्ण्य' की प्रवृत्ति होनेके लिये सब मानवी-जीवोंको प्राप्त होनेवाली आत्मसाक्षात्कार मूल अलौकिक एवं दिव्य युक्तिका (दिव्यचक्षुका) सर्वत्र बीजारोपण करने के सिवाय अन्य सुलभ उपायही नहीं हो सकता [गीता. ४.३१, ९.३२; व १८.६८]। जिन कर्मप्रेरक त्रिगुणों से 'चातुर्वर्ण्य' की उत्पत्ति होती है उसके जडपर ही इस युक्तीका अतीव तीव्र आघात होने के कारण क्रमशः सर्वत्र गुणपरिवर्तन होकर सत्वगुणका आधिक्य होने लगेगा; और इसीका नाम सतयुगकी प्रवृत्ति होना है—

फैलतही सत्-ज्ञान निज साधु-भाव दृढ होय,।
दुष्कृत सन्मुख नहिं रहे, जाने विरला कोय ॥

गुणोंपरही सत-ज्ञानद्वारा आघात कर उनके परिवर्तन के योगसे सतयुगप्रवृत्तिका बीज बोनेकी कल्पना श्रीकृष्णोत्तरकालमें प्रथमतः श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यकोही प्रगट हुई है [बुद्धदर्शन, ५५]; और तदनुसार—'**बिन सेवा जे द्रवहिं दीनपर**'—इस न्याय से तद्योतक—

इस प्रकार पाखण्ड मत फैलायो चहुं ओर।
नाश करें निज धर्म सत् पन्थ कहें सिरमोर ॥
सत्य सनातन धर्म को वैभव, स्मृति-धृति-कीर्ती,।
वाणी-मेधा-क्षमा, सत् भूल गये, अपकीर्ती।
यह स्थिती लखि सुख हेतु सत् द्विजकुलमें तनु लीन।
दिव्यदृष्टि मम योग निज प्रगट सुअवसर कीन्ह ॥

ऐसा प्रचंड कार्य उन्हींके हाथसे हुआ है यह बात तो उनके विरोधियोंको भी कबूल करना पडती है [बुद्धगीता, २४–३८ अवश्य देखिये]; और किसीभी जातिके विवेकी स्त्री-पुरुषोंको उनका तत्वज्ञान सब जगह, सब काल तथा यथाप्राप्त परिस्थितिमें प्रत्यक्ष व्यवहार्य हो सकनेके कारण, यदि आगे सतयुग आना संभाव्य हो तो वह इसी सर्वसामान्य उपाय के द्वारा आसकेगा, यह बात धर्मदृष्टीके अनुभवके आधारसेभी स्पष्ट कहना पडती है। भावना-क्रांती करते हुए युगधर्ममें स्थित्यंतर कर देना यही " अवतारी " पुरुषका सुस्पष्ट चिन्ह है यह बात सबकोही मानना होगी। गत-पूर्व बुद्ध-संज्ञाधारी व्यक्तियोंने तो आत्मतत्वका अस्वीकार करनेसे वे प्रत्यक्ष आत्मानुभव मूलक ज्ञानके भक्कम आधिष्ठानपर धर्मसंस्थापना करनेमें असमर्थ हुए; और इसी लिये उनका तत्वज्ञान एकांगीय सांप्रदायिक स्वरूपमें परिवर्तित होगया तथा उनका सांप्रदायिक-धर्मभी चिरस्थायी स्वरूपमें परिणत न होसका एवं वह ईश्वरी अव्ययधर्म न होनेसे उक्त बुद्धादि " अवतार " नहीं हो सकते। किंतु, श्रीभगवान मायानन्द चैतन्यका कार्य गतपूर्व बुद्ध-व्यक्तीकी समान थिल्लर नहीं, एकांगीय नहीं, सांप्रदायिक नहीं, वह सब जातिके स्त्री-पुरुषोंके लिये एवं सर्व-सामान्य है और उसकी बुनियाद आत्मानुभवकी भक्कम अधिष्ठानपर डाली गयी है। गत-पूर्व सब अवतारी पुरुषोंके कार्यका स्वरूप इसी प्रकारका था यह बात इतिहासके तौलनिक अभ्याससे गोचर हो सकती है। अतः श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीनें बुद्ध-पदपर अपना हक बताया है वह सत् एवं माननीय है यह कहना पडता है।

सच पूंछा जाय तो, धर्मसंस्थापना करके श्रीकृष्णजी के निज-धाम पहुंचनेपर पुनरपि थोडेही समय के अनन्तर ईश्वरावतारी दिव्य विभूति अवतीर्ण होनेका कोई कारणही नहीं था. क्योंकिः—

युगधर्मे परावृत्ते, काले च शिथिले प्रभुः।
कर्तुं धर्मव्यवस्थानं जायते मानुषेष्विह ॥

'युगधर्म परावृत्त होकर कालभी शिथिल होजाता है, उसी समय धर्म-व्यवस्थान करने के लिये मानुषी-योनिमें **ईश्वर का** (देवादिकों का नहीं) **प्रादुर्भाव** होता है।' [वायुपुराण ९७.३५]. यह अवतार प्रादुर्भवन की प्राचीन कल्पना है। यह कल्पना प्राचीन बुद्ध-संज्ञक व्यक्तिके उदय-कालसे बिलकुल मेल नहीं रखती। किंतु सांप्रतकाल की कलियुगकी सम्यक् प्रवृत्ति तथा कालशैथिल्य एवं द्वापरको दबाकर चारों ओर कलियुगका साम्राज्य होने के अर्थात् पंथ और सांप्रदायों का प्राबल्य होनेके समयको ही उत्तमता से उक्त कल्पना का मेल होजाता है। भविष्यकाल में आनेवाले सतयुग प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया, तोभी यह बात कबूल करना होगी कि, विद्यमान समयहि दिव्य विभूतिके अविर्भवनके लिये अनुकूल काल है। क्योंकि इमारत गिरने के लिये तो कालावधि नहीं लगना, किंतु उसे सुव्य-वस्थित रीतिसे खडी करनेके लिये दीर्घकालकी आवश्यकता होती है। उसी न्यायसे यदि प्रस्तुत समयसेही आत्मयोगका उर्फ औप-धर्म का बीज सर्वत्र बो दिया तो आंगे सत-युगकी प्रवृत्ति होना संभाव्य है। प्राचीनकाल में जो बुद्ध-व्यक्ति होगये हैं वे कलियुग के बिलकुलही प्रारंभावस्था में हुए थे; अर्थात् उस समय कलियुगका

साम्राज्य नहीं था। । फिर अवतार की आवश्यकताही क्या थी? वे 'अवतारी' थीं और युगकार्य के लिय प्रवृत्त हुई थीं ऐसा माना जाय तो उसका परिणाम युगका सुधार होजानेमें दृश्य होजाना चाहिये था। लेकिन परिणाम तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि, गत-पूर्व बुद्ध-व्यक्तियोंके अनन्तर अबतक युग-प्रवृत्ति बिगडती ही जारही थी जिसे कहींभी रोक नहीं होपाई। इसके अलावा उन व्यक्तियोंनें 'आत्म-योग' नहीं दिया है और भारतवर्षसे उनका सांप्रदायिकधर्मभी नष्ट होगया है। इससे इस सांप्रदायसे भारतवर्षमें फिर सतयुग-प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी?। अतः यह बात मानना पडती है कि, प्राचीन बुद्ध-नामधारी व्यक्तियोंको "बुद्धावतार" (ईश्वरका आविर्भाव) मानना अज्ञानजन्य है। अन्य समयमें विवक्षित कार्यकी पूर्ती के लिये अन्य 'विभूतियां' अवतीर्ण होती हैं, 'ईश्वर' नहीं। नहीं तो ईश्वरावतारी व्यक्तिके अवतरणमें कुछभी महत्व न रहेगा; और प्रति चार-पांच वर्षोंके पश्चातभी ईश्वरावतारी व्यक्तिकी आवश्यकता भासमान् होने लगेगी!। क्यों कि प्रत्येक समय और स्थलमें धर्मग्लानी रहतीही है!। श्रीकृष्णजीके निजधाम पहुंचनेपर अल्पकालके पश्चातही विवक्षित कार्यके लिये गौतम-बुद्धरूप विभूतिका उदय क्यों हुआ इसका कारण उपर्युक्त विवेचनसे ध्यानमें आजायगा [भाग. १·३·२६-३० देखिये]।

गत-पूर्व बुद्ध-व्यक्तिको 'अवतार' नहीं कह सकते यह सत्य इस प्रकार स्पष्ट होजानेपर, जिनको श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजी का ईश्वरी बुद्धत्वरूप अवतारित्व उनकी विद्यमानावस्थामें स्पष्टरीतीसे भासमान

नहीं होता है वे लोग इसप्रकारका एक कोटिक्रम करते हैं कि "हमें मान्य है, प्राचीन बुद्ध-व्यक्ति अवतार नहीं थे, और श्रीमायानन्द चैतन्य जो धर्म दे रहे हैं वह औपधर्म है यह भी माननीय है; किंतु श्रीमायानन्द चैतन्य यही ईश्वरी-बुद्ध हैं यह बात उपर्युक्त प्रमाणोंसे किसप्रकार सिद्ध होती है? सच्चा ईश्वरी-बुद्ध आगे होकर औपधर्म देगा ऐसा क्यों न माना जाय?"। इस आक्षेपका यहांपर कुछ विचार करें। इस प्रकारके लोगोंकी—'बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।' (गीता) इस प्रकारकी बुद्धि होनेसे उन्हें ईश्वरी-बुद्धका कर्तव्य क्या है वह नहीं दिखता, शरीरकी दृष्टीसे वैभवके नातेसे वे विचार करते हैं; और इस समय बुद्धीकी चंचलावस्थामें मायानंदी-औपधर्मभी कबूल करते है, किंतु आगे दूसरा औपधर्म निकलकर वह प्रदान करनेवालाभी क्योंकर नहीं निकलेगा ऐसाभी कहते हैं!!। गुरु-चोरोंकी यही वृत्ति रहती है। ऐसे लोगोंके साथ बुद्धिवाद करनेसे तत्वांश नहीं निकल सकता यह बात यद्यपि सत्य है और "पिता बताइये, या श्राद्ध कीजिये" इस सामान्य उत्तरसे वे भाग जाते हैं यह बातभी यद्यपि विचारणीय है, तथापि इस प्रश्न का विचार अन्य दृष्टीसे भी होसकता है यह ध्यानमें रखना चाहिये। ये स्वयं प्रतिपादन करते हैं उस प्रकार इन आक्षेपकों के पास **श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्य ईश्वरी अवतारभूत बुद्ध नहीं है इस विषयमें भी क्या प्रमाण है?** नाहीं कह देना तो सहल है, लेकिन उस विषयमें प्रमाण देना बडाही कठिण है। ये आक्षेपक इस विषयमें एकभी प्रमाण नहीं दे सकते। केवल श्रीमायानन्द

चैतन्य सांप्रत विद्यमान रहने से और उनकी ओर भावनावश होकर देखनेसे सिर्फ उनके दोषोंकी (?) ओरही उनका दृष्टी-क्षेप होता है, उनके गुण तो वे देखतेही नहीं, इसी कारण उन्हें श्रीमायानन्द चैतन्यजीका ईश्वरी बुद्धावतारित्व न दिखकर वे विचार-भ्रममेंही उलझ जाते हैं;—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

[६] अवतार कौन नहीं मानते ?

जो लोग भोगैश्वर्यकोही सर्वस्व मानते हैं। और जिन्होंने भोगैश्वर्य को अपने वीर्य के बराबर प्राप्त कर लिया है ऐसे जडवादी लोग तथा उनके बगलबच्चे तथा हमारे देशके आर्यताहीन लोगही अवतार तत्व को न मानें, परन्तु जिन्हें सारा संसार आत्ममय है और जो 'वसुधैव कुटुंबकम्' न्यायके अनुयायी हैं उन वृत्ति के लोगों को यह अवतारतत्व जम जाता है और वे मान देने लगते हैं।

श्रीकृष्णजीकोही उस समय जो अनुभव आया वही उन्होंने इसमें ग्रथित किया हुवा है। यह उद्गार इस प्रकार के आक्षेपक लोगोंकी ओर दृष्टी-क्षेप करते हुएही निकाले गये हैं। गत पूर्व व्यक्तियों के बुद्धत्वका अस्वीकार करके अगामि समय सच्चा बुद्ध होगा ऐसा जो मानते-कहते हैं उसका जरा अधिक विचार यहांपर करें। श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्य जो "औपधर्म" देते हैं उसका खण्डन ये आक्षेपक नहीं कर सकते अर्थात उसका सत्यत्व इन लोगोंको स्पष्टतासे गोचर होता है, और पहले जिनका उल्लेख किया

गया है वे अवतार पहिंचानने के मुख्य लक्षण भी इन्हें मान्य होते हैं। किंतु विद्यमान व्यक्तीका अवतारित्वही ये लोग कबूल नहीं करते वस्तुतः देखा जाय तो सब प्रमाणणीय ग्रंथोंने मुक्त-कंठसे प्रतिपादन किए हुए अवतार-आविष्करण विषयक मानवजातिसामान्य चिन्हों के अतिरिक्त अन्य चिन्ह जब उपलब्ध नहीं होसकते, तब तो यह बात अवश्यही माननीय है कि, जिस व्यक्ति में इन लक्षणों की उपलब्धि हो, 'औपधर्म' देकर तन्मूल धर्म-संस्थापन का महत-कार्यभी जो करता हो, और निज स्वरूप का अवतारित्व जो स्वयं प्रतिपादन करता हो, उस विभूतिको '**अवतारी**'-पुरुष समझनेमें न्यायप्रमाण दृष्टीसे किंचितभी प्रत्यवाय नहीं है। इसपरभी आगे शायद दूसरा सच्चा बुद्ध क्यों न होगा ऐसा कहकर, प्रस्तुत समयमेंही बुद्ध-संज्ञासे स्वयं प्रतिपादन करनेवाले व्यक्तिके बुद्धावताररूप होनेका अस्वीकार करके, आगे बुद्ध-जन्म होनेकी अपेक्षा करनेसे लाभही क्या है? मुहूर्तमात्र मानलिया कि, आगे अन्य बुद्ध होगा जिसे हम अवतार मानसकें। इससे क्या निष्पति होगी? क्योंकि जबतक अवतार-आविष्कार-तत्वदर्शक लक्षणोंका विपरीतार्थ नहीं करते बनता अथवा अन्य लक्षणों का प्रतिपादन नहीं होता, और श्रीभगवान मायानन्द चैतन्य तथा गीता जिस तत्व को 'दिव्यचक्षु' (औपधर्म) संज्ञासे पुकारती है उसकी शास्त्रीय प्रमाणोंद्वारा खंडण होनेकी चेष्टा नहीं होती, तबतक अगले कालमें होनेवाले किसीभी व्यक्तिसे प्रस्तुत-कालका मायानंदी औपधर्मही उस समय यदि दिया या उस व्यक्तिमें प्रस्तुत के अवतार-तत्वदर्शक लक्षणही पाये गये तो वह व्यक्ति

अस्तित्व में न रहने से बुद्धावतार-निर्णयके झमेलेमें पडनेसे कुछ भी लाभ नहीं है; और ऐसे लोगोंके लिये यह प्रयत्न भी नहीं है। ऐसे लोग तो श्रीकृष्णका अवतारित्व और धर्मसंस्थापना का कार्य भी मानने को तय्यार न होंगे और न होते हैं, यह स्पष्ट है। लेकिन ऐसे वितंडवादियों से विवाद करके व्यर्थ कालक्षेप न करते हुए अवतार-तत्वविषयक घटनाओंपर जिनका विश्वास है ऐसे लोगोंके लियेही यह मीमांसा कीगई है और उपर्युक्त आक्षेपमें भी अवतार-तत्व का स्वीकार करते हुएही आक्षेप निकाला गया है। उसको ग्रहीत करकेही यहां विचार करें। केवल दैववाद की अर्थात् उपादान कारणकीही दृष्टीसे सृष्टि-चक्रांतर्गत घटनाओंका यदि निरीक्षण किया जाय तो श्रीभगवान मायानन्दजीकाही नहीं, श्रीभगवान् कृष्णजीका भी अवतारित्व सिद्ध करनेकी चेष्टा होना कष्टसाध्यही नहीं बल्कि दुःसाध्य है। तथापि सृष्टि-चक्रांतर्गत युगपरिवर्तनके लिये कारणीभूत होनेवालीं उपादानकारणरूप घटनाओंमें अवतारी-पुरुषभी निमित्त-कारण होते हैं और निमित्तकारणके संयोगके एवं दोनों कारणोंके सिवा केवल उपादानकारणसे उन घटनाओंको पूर्णत्वसे मूर्तस्वरूप प्राप्त होना असंभव है, इस नैय्यायिक-तत्वदृष्टीका यदि स्वीकार किया जाय, तो श्रीरामका, श्रीकृष्णका अथवा श्रीमायानन्द चैतन्यके कार्यका महत्व स्पष्टरूपसे ध्यानमें आसकता है. लो० तिलक-कालके अथवा गांधी-कालके कार्य राजकारणकी हलचलसे यद्वत स्पष्ट दिखते हैं तद्वत संतों के कार्य यद्यपि स्पष्ट नहीं होते, तथापि राजनैतिक घटनाओंके परि-

णाम संतोंके तथा अवतारी-पुरुषोंके कार्यके समान—और अवतारी-पुरुष सर्वत्र राजनैतिक भी होतेही हैं यह नियम नहीं है; उनका कार्य राजकारणकाभी राजकारण रहता है—चिरपरिणामरूप, दूरगामी एवं जनताके हृदयमें आत्मीकरण होते हुए कायमी शांतिमय अर्थात् धार्मिक क्रांति करनेवाले नहीं होते यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये। राजनैतिक कार्योंकी केवल तात्कालिक चकाचौंद छोडकर श्रीकृष्णजीके धार्मिक-कार्यकी ओर तथा श्रीमायानंद चैतन्यजीके चातुर्वर्ण्यधर्म-दर्शनरूप-कार्यकी ओर इसी दृष्टीसे देखना चाहिये। इस दृष्टीसे सूक्ष्म-निरीक्षण करनेपर यह स्पष्ट दिखाई देगा कि, श्रीमायानन्द चैतन्यजीका कार्य कितना प्रचंड, सद्यःफलदायी तथा भावी सत-युग प्रवृत्तीका अत्युत्तम बीजारोपण करनेवाला है। सत्यान्वेषण-दृष्टीसे और सदसद्विवेक-बुद्धिको ठिकानेपर रखकर आंखें अच्छी तरह खोलकर उनके अभूत-पूर्व कार्यक्षेत्रकी ओर यदि दृष्टि-क्षेप किया जाय तो उनके कार्यके दूरगामी परिणाम सांप्रतभी स्पष्ट गोचर होते हैं।

लो० तिलकने तिलक-कालमें और म. गांधीने गांधी-कालमें जो कार्य किया वह कार्य, यदि ये व्यक्तियां निर्माण न होतीं, तो सृष्टि-चक्रमें होता या नहीं इसमें संदेह है। अथवा, सृष्टि-चक्रमें जो घटनायें मानवी-जीवोंके हेतु होती हैं उनके होनेके लिये अन्यान्य कारणोंके समानही समय समय पर निर्माण होनेवालीं व्यक्तियाँही सृष्टि-चक्रांतर्गत साधनोंमेंसे एक साधन हैं. उस साधनके (निमित्त-

कारणके) द्वाराही उनका कार्य व्यक्तदशा धारण करता है, यह जितना सत्य है, उतनीही यह बातभी सत्य है कि, भगवान् श्रीमायानन्द चैतन्यजी सृष्टिचक्रांतर्गत भावी कृत-युगप्रवृत्ती निर्माण करनेवाले कार्यसाधकोंमें एक प्रमुख साधक हैं।

आक्षेपकों से हम पूछना चाहते हैं कि शिवाजी महाराज न होते तो उस समय स्वराज्य स्थापना होजाती या नहीं ?। यदि वे कहें कि होजाती तो शिवाजीका महत्व क्या रहा ? आप किसके लिये उनकी बड़े समारोह के साथ जयन्ति मनाते हैं यह आपको सकारण और सचसच बतलाना पडेगा. यदि वे कहें कि स्वराज्य स्थापना न होती, तो उन्होंने अवतार की आवश्यकता कबूल करली यह सिद्ध होजायगा। हमाराभी यही कहना है कि Necessity is the mother of Invention यह समष्टि प्रकृतिका कायदा है। शिवाजी के पूर्व समय के उस देश में (किंबहुना सारे भारतवर्ष में) अवतारके होनेका समय उन लोगोंकी प्रसुप्त तय्यारीयांसे तय्यार होगया था। उसीकी पूर्ति शिवाजीके अवतीर्ण होने से हुई। समष्टी के मानवी जीवोंकी यह अंतर्गत प्रसुप्त हलचल शिवाजीमें प्रगट हुई—मूर्तरूप धारण किया। समष्टी जिस तत्व में कार्य करना चाहती है उसी तत्व का अवलंबन कर वह कार्य पूर्ण करनेकी चेष्टा करती है——यही कारण है कि मानवी जीवोंको आकांक्षायें पूर्ण करने के लिये मानवी व्यक्तिही प्रकृतिचक्रकी गतिमें प्रगट हो निमित्तरूप होती हुई समष्टी के उपादान शक्तिका कार्य व्यक्त कर पूर्ण करदेती

है। पहले सब अवतार इसी प्रकार मानव शरीरी थे—उसउस कुलमें हुए, उनसे ही उस कुलके नाम की प्राधान्यता बढ़ी जो आज पुराणों में दिखाई देती है।

श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष थे यह सर्वसंमत है। किंतु, सत्यतः पूछा जाय तो, श्रीकृष्णजी नें क्या धर्म-संस्थापना की ?। केवल दुष्टों को मारने और बडे बडे अचाट (?) कर्म करने से धर्म-संस्थापना नहीं हो सकती। और सार्थक में तो वे घटनायें होनेवालीं ही थीं, फिर श्रीकृष्ण का उसमें महत्वही क्या है ?। जो आक्षेपक इस प्रकार के आक्षेप लाते हैं उन्हें यही उत्तर है कि, सृष्टिमें जो घटनायें होतीं हैं वे कारणद्वयसंयुक्त होतीं हैं, पृथक नहीं। उसी दृष्टीसे श्रीकृष्णजी धर्म-संस्थापनाके लिये निमित्तमात्र हुए—उपादान कारण सृष्टि-चक्र और तदन्तर्गत शक्ति है जो ईश्वरका रूप है; इसीका बाह्यस्वरूप घटनाओंका निमित्तकारण रहता है। सिवाय निमित्तकारणके उपादान कारण पंगु है। यही बात श्रीकृष्णके अवतार-कार्यतत्वको घटती है। श्रीकृष्णजी द्वापरके अन्तमें हुए थे; उनके बाद कलियुगका आरंभ होगया। उनके बादका एवं कलियुगका जो अवतारद्वय शेष रहा उसमें का एक अगले कालमें होनेवाला है। जो सत् नहीं मानेंगे उनको शासकशक्तिके बलसे वह सततत्व माननीय करेगा; और नहीं मानेंगे उनका नाश करदेगा। बाकी जो एक अवतार शेष रहा वह सत-युगकी स्थापना होनेका बीज बो देगा। गुणोंके कितनेही विभाग क्यों न हों, सत्युग सत्यगुण प्रधान एवं अन्य दो गुणोंको दबाकर

निज स्थिति कायम रहने लायक गुणोंकी अवस्थामें रहता है यह बात सर्वमान्य है। और यह घटना अन्य किसी उपायोंसे संभाव्य नहीं होसकती जैसी कि ज्ञानसे; और वहभी अनुभवज्ञानसे होसकती है। औरोंनें 'अनुभव' एवं 'दिव्यचक्षु' (बुद्धियोग) दियाही नहीं; नहीं तो 'दिव्यचक्षु' का प्रकाश और उसका बोलबाला प्रस्तुत समयमेंही इतना क्यों होता है?। जो वस्तु जिसके द्वारा जिस समय प्रगट होती हैं उसी समयसे उसी व्यक्तिके द्वारा उसका प्रकर्ष होने लगता है; यद्वत लो. तिलकसे कर्मयोगका हुआ। अब लो. तिलकका कर्मयोग यह सच्चा अंतिम भूमिकाका "कर्मयोग" नहीं है यह बात पृथक है।

"दिव्यचक्षुका" सर्वत्र अभूतपूर्व स्वयं प्रचार करना यही "**बहु वक्तव्य**" है —जिसे भागवत में '**बहु भाष्यत**' कहा है —और उसका मेल भागवतसे और श्रीमायानन्द चैतन्यके स्वयंभू उद्गारों तथा कार्योंसे अत्यंत उत्तमतासे होता है। इसीलिये उनके **बुद्धावतार** होनेमें निश्चय होता है। परंपरासे कुछ इशारतें भी चलीं आतीं हैं। इस प्रकारका इशारा यद्वत वसिष्ठने श्रीराम-चन्द्रजीको दिया था तद्वतही विशुद्धानंदजीने (श्रीमायानंदजीके श्रीगुरू) श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीको भी दिया था (बुद्ध-दर्शन, ५६-५७ देखिये)। आगे दूसरा बुद्ध होना किस कारण संभाव्य नहीं है यह बात अब उपर्युक्त-प्रमाणोंसे स्पष्ट होजायगी। इस आक्षेपमें कुछभी सामंजस्य और युक्तिसिद्धता नहीं है। श्रीकृष्णजीके समयभी यही स्थिति थी। उनकेभी बहुत विरोधी थे। परन्तु हर्ष

की बात है कि उस प्रकारकी अवस्था, प्रस्तुत समयमें नहीं है. अब यह अनुभव की विद्या प्रगट होगयी है, वह नष्ट नहीं होसकती, यद्वत् कृष्णजीके समय होगयी थी।

महाभारतमें यद्यपि प्रस्तुतकालके दशावतार-नामोंका उल्लेख नहीं है और उसमें निर्देश की हुई संख्यामें अधिक अवतार यद्यपि मान लिये, तथापि गत-पूर्व बुद्ध असाधारण विभूति एवं ईश्वरका आविर्भाव अथवा '**अवतार**' था या अन्य साधारण 'विभूति' था यह मुख्य प्रश्न है। फिर उस संख्यामें 'बुद्ध' यह नाम अंतर्भूत हो वा न हो; चाहें तो अन्य नाम देदीजिये। परन्तु रूढ अवतार-तत्व तो दशावतार-तत्वके पश्चात् कालका है; और इसीलिये गत-पूर्व बुद्ध यह दशावतारांतर्गत 'बुद्ध' एवं '**बुद्धावतार**' नहीं यह बात उपरोक्त विवेचनमें शास्त्रीयप्रणालीद्वारा प्रमाणित करनेकी यथेष्ट चेष्टा की गई है। 'मैं अवतार हूं' या 'मैं बुद्ध हूं' इत्यादि प्रकारके उद्गार दिव्य-विभूतिके मुखसे निकलना अहंकार मूलक नहीं हैं। कृष्ण, राम इत्यादि दिव्य-विभूतियोंनें ऐसेही उद्गार निकाले हैं [गी. ४.६-७ देखिये]. इसमें गत-पूर्व बुद्ध-व्यक्तिको उसके स्वकीय सत्य पदसे च्युत करानेका प्रयत्न या उद्देश नहीं है; और उसके व्यवहारतः आदर्शरूप और पावित्र्यरूप रहनेवाले आचारको गर्हणीय करदेनेका इसमें हेतु नहीं है। प्रकृति-चक्रांतर्गत सत्य अवतारी-विभूती कौन था या है इतनाही दिग्दर्शित करनेका इस विषयका उद्देश्य है। यह ध्यानमें रखकर पाठक यदि इस लेखको पढेंगे तो लेखकपर वे

वृथा रोप न करेंगे।

सृष्टी-चक्रमें निज अवतारित्वकी पहिंचान बाह्यतः प्राप्त होने-वाले इशारेसे प्रगट होती है—निमित्त कारण और उपादान कारणोंके संयोगके सिवाय किसी वस्तुका पूर्णस्वरूपसे प्रकाशित होना संभाव्य नहीं है। राम और कृष्णको जो एतद्विषयक इशारे (सूचनायें) उनके गुरुसे प्राप्त हुए उससे उनकी स्वयंभू तथा अव्यक्त भावनायें व्यक्त या प्रगट होगयीं; और इस प्रकार उस व्यक्त स्वयंस्फुरित भावनाके अनुसार उन्होंने अपनी स्वयंभू "**पदवी**" पहिंचान ली और उस-पर वे आरूढ़ होगये। विश्व-चक्रमें वह भावना सत् रहनेके कारण टिकभी गयी। इसी न्यायसे श्रीभगवान मायानन्द चैतन्यने जो प्रति-पादन किया है वह उसी स्वकीय स्वयंभू भावनावशित्वसे किया है। जिसके विषयमें उन्हें उनके गुरुके द्वारा स्पष्ट सूचना मिल चुकी थी और तदनुसार उसकी ठिणगीसे उनमें जो स्वयंभू भावनाका स्फुरना होगया था। गत-पूर्व बुद्ध व्यक्तिने अपनेको ईश्वरावतारी बुद्ध कदापि नहीं कहा। 'मैं सत्य कृष्ण हूं' ऐसाही कृष्णके समय एक पुरुष कहता था; और 'सत्य कृष्णावतार मैं हूं, वह नहीं' ऐसा कृष्णजी कहते थे ! [महा. 'आदिपर्व' देखिये]। समुच्चयसे प्रमुख कार्यपरसे और लक्ष-णोंपरसे अवतारित्वकी पहिंचान होती है इस कारण प्राकृतिक-चक्रमें कृष्णजीके ही स्वयंस्फुरित भावनाका प्रभाव पडा और चिरस्थायी होगयी। '**कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी**।' इसी न्यायसे अवतारी—विभूतीयोंकी गणना उनके पश्चातही यद्यपि अवतार-संज्ञामें परिणत होती है—उसकी स्वयंस्फुरित भावना विश्व-चक्रमेंही चिर-

स्थायी होती है—तथापि उन पुरुषोंके **जीवन्-अवस्थामें स्वयं अवतारी-पुरुषोंनेभी उसी प्रकारका स्वकीय अवतारित्व स्वयं प्रतिपादन किया था;** किंतु—उनकी '(आत्मयोग)' मायाकी आवरणसे अन्यान्य जन संमोहित होनेके कारण [गीता. ७.२५-२६; ९.११] सूक्ष्म-दर्शी ज्ञाते पुरुषही उनका विशिष्टत्व पहिचानते थे यही वर्णन प्रायः उपलब्ध होता है [गी. १०.१३ देखिये]। वायुपुराणमें—

> कर्तुं धर्मव्यवस्थानं असुराणां प्रणाशनम्।
> मोहयन् सर्वभूतानि योगात्मा योगमायया॥
> प्रविष्टो मानुषीं योनिं प्रच्छन्नश्चरते महीम्।
> विहारार्थं मनुष्येषु (सान्दीपनिपुरस्सर)॥

योगात्मा श्रीकृष्णके '(आत्म) योग' मायाका जो यह वर्णन पाया जाता है [वायु० ९८.९८-९९], उसकी छाया भागवतमेंके पूर्वोल्लिखित—'**ततः कलौ संप्रवृत्ते समोहाय सुरद्विषाम्।**'— इस श्लोकमेंभी पायी जाती है। इस आत्मयोगमायाके रहस्यके कारण अवतारि-पुरुषोंकी पहिचान दुनियाको नहीं होने पाती और उसीके कारण वे '**प्रच्छन्न**' (गुप्त, गूढ) रहते हैं—वे जानबूझकर प्रच्छन्न रहते हैं या लोगोंको मोहित करते हैं ऐसा अर्थ नहीं है; उस प्रकारका अर्थ अवतार कार्यसे प्रतिकूल होगा—

'No one is Prophet in his time and place'

'अपनी जीवन अवस्थाके स्थल और कालमें कोईभी व्यक्ति सर्व

साधारणसे अवताररूप नहीं कहलाती ' इस अंग्रेजी कहावतका अर्थ अवतारी पुरुषोंकी यही ' प्रच्छन्नता ' व्यक्त करता है। श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्य के---**ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकरहिं गुप्त निज कर्म'**—इस कहनेका आशय [बुद्ध-दर्शन ५२], अथवा **' नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः '**—श्रीकृष्णजीके इस विधानकाभी वही अर्थ है [गी. ७-२५]* ।

---

* अवतारोंको निज अवतारित्व के लिये ग्रंथोंका आधार नहीं लगता और न वे दुसरोंनें बनानेपर बनते हैं; उनके उद्गार तो उपर्युक्त रीतीके स्वयंस्फुरित अखंड ब्रह्मावगाहिनी बुद्धीसे निकले हुए होते हैं। यह अनुभव न जाननेके कारण, स्वामी विवेकानन्दने अपने ग्रथोंमें जो—"मैं ईश्वर हूं' ऐसा इस समय यदि तुमने कहा तो तुम सचमुचही ब्रह्मनिष्ट हो ऐसा मैं समझूंगा। जो एक समय राम था, जो कृष्ण था, वही इस (रामकृष्ण परमहंसके) देहमें अब ' रामकृष्ण ' बना है। वेदांतसूत्र ऐसा कहते हैं इसी हेतु मैंभी कहता हूं।" [विवेकानन्द, खंड ११ पृष्ट ४१] स्वयं श्रीरामकृष्णके ये उद्गार दिये हैं। कहां वे उद्गार और कहां उपर्युक्त श्रीभगवान् मायानंद चैतन्यके और कृष्णके उद्गार! रामकृष्ण परमहंसका यह निरा भ्रम था, और वह वैसाही रहा। श्रीभगवान् श्रीकृष्णका अवतारित्व मुख्यतः व्यासमुखसे सुनाई देता है और श्रीभगवान् मायानंद चैतन्यकाभी उसी प्रकारसे सुनाई देगा इस बातका श्रीरामकृष्णके उद्गारोंसे कोईभी साम्य नहीं है.

[८] बुद्धावतार : वैशिष्टय।

तात्पर्य यह है कि, गत-पूर्व बुद्धव्यक्तिकी समान किसी भी लोकमान्य अथवा महात्मा व्यक्तिकी गणना विभूतिमें होना निःसंदेह रहा, तोभी किसी व्यक्तिके ईश्वरी **अवतारित्वकी** पहिचान **समुच्चयसे** पूर्वनिर्दिष्ट लक्षणों तथा कृत्योंसे ही होती है। इस कारण उपर्युक्त लक्षण तथा कर्मशीलता श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्य में हैं या नहीं इसकी जांच यदि सूक्ष्म दृष्टी से की जाय तो वे उनमें गोचर हो सकते हैं। अबतक जगतमें जो विशेषरूपसे अनाविष्कृत था वह श्रीकृष्ण-परंपरा-प्राप्त 'आत्मयोग' (**औपधर्म**) जिस विभूतिके द्वारा प्रथम 'आविष्कृत' (**प्रकाशित**) हुआ-अर्थात् भागवतमें कथन किये अनुसार जिस व्यक्तिने दिव्यचक्षुका अश्रुतपूर्व **बहुत वक्तव्य एवं भाषण** उपदेश साक्षात्करण पूर्वक करके श्रीकृष्णोत्तर कालमें 'मैं बुद्ध हूं' यह बात प्रमुखता से आविष्कृत करने की जिसे प्रथम स्फूर्ति हुई—वह **'औपधर्म-प्रकाशक'** व्यक्ति केवल विभूतिही नहीं, बल्कि लोकोत्तर दिव्य विभूति एवं ईश्वरावतार ही होनी चाहिये, यह कहनाही पडता है; " 'यदायदाहि धर्मस्य' इस ग्लानिनाश के लिये अवतार होता है। वर्णकर्म पर आरुढ करना यह कर्तव्य है. अन्य लोगों ने 'औपधर्म' नहीं दिया है, बल्कि पंथ निकालकर स्वकृत कर्मोंका बोझा लोगों पर लाद दिया और इस प्रकार (सनातन वैदिक) स्वधर्मका नाश किया. अवतार का अपराजय नाम है. तदितर सबों का पराजय हुआ है. नियत स्वधर्म

छोड़कर स्वर्गांतर और स्वकीय भावना के अन्य कर्म सिखलाने वाला पाखण्डी है, अवतार नहीं. बहुत सूक्ष्म विचार जीवकोटिको कैसे समझ सकते हैं ?'' [भगवान् श्रीमायानन्द चैतन्य]। संप्रदायिकों ने तो 'प्रत्यक्ष' ईश्वररूप का खंडण करके कल्पित देव देवताओं में जनता को झुकाकर मंडन किया है. परंतु श्रीमायानन्दजी की तरह जो 'प्रत्यक्ष' का ही मंडण करे वही अवतार माना जासकता है।

जिस समय प्रचण्ड लहरका उद्भव होता है उस समय सब छोटे मोटे नाले और खड्डे किसी प्रकार के स्वप्रयत्नोंके सिवा कांठो-काठ भर जाते हैं—इसी प्रकार जब ईश्वर अवतार धारण करता है तब अनुभव-ज्ञानकी प्रचण्ड लहर सर्वत्र उछलती है और सर्वत्रही वातावरण सत्य-ज्ञान के प्रकाश से भर गया है यह लोगों के अनुभव में आने लगता है। श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्य के हाथ से सत-युगप्रवर्तक दिव्यचक्षुजन्य ज्ञानविज्ञान—विद्या का सार्वत्रिक प्रचार स्वभावतः होने का यही कारण है। नहीं तो सांप्रत काल में ही दिव्यचक्षुका बोलबाला इतना क्यों होना चाहिये ?। श्रीकृष्णोत्तर कालसे आजतक किसीने भी इस विषय की चर्चा क्यों न की ?। शाब्दिक तथा परोक्ष ज्ञान देनेवाले पुरुष बहुत हुआ करते हैं, थे व आगे भी होंगे, किंतु जाति-पाति-अधिकार-अनधिकार इत्यादि भेद भाव प्रगट न करते हुए मेघवर्षावके समान स्वप्रयत्नोंके सिवायहि लोगों के कानों पर अनुभवयुक्त ज्ञान के सदैव आघात होते रहनेका कारण क्या है ?। ये प्रश्न और कार्य महत्व के नहीं यह तो कोई

कह सकताही नहीं। अतः इन प्रश्नोंके समाधानकारी उत्तर तो तभी प्राप्त होसकते हैं जब कि स्वयं श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यजीके व्यक्त किये हुए—"मैं बुद्ध हूं और सत-युगीय औपधर्म देने आया हूं" इत्यादि—असंदिग्ध शब्दोंको स्पष्ट अनुमति दी जावेगी।"दिव्य-चक्षु इतरत्रभी है, फिर उसके विषय में श्रीमायानन्द चैतन्यजी ने यह युक्ति जगतके किसी ग्रंथमें नहीं ऐसा कहकर इतना वडिबार करने का क्या कारण है?" ऐसा एक उत्तर आक्षेपक लोग कभी कभी दिया करते हैं। पर इसके विषयमें यहां पर इतनाही कहते बनेगा कि, दिव्यचक्षु सर्वत्र हैं यह भास उन्हें अब—यानी दिव्य-चक्षुके प्रकाशन के बाद—होता है, तत्पूर्व काल में यह ज्ञान उन्हें नहीं था उसका कारण क्या है? और यह आक्षेपक स्वयं कबूल करते हैं कि पहले उन्हें ज्ञान न था। जिसके हाथ में एक वक्त दीप प्रकाश आगया, फिर उसे सर्वत्र प्रकाशही गोचर होता है, अंधकार नहीं, यह बात नित्य ध्यान में रखने पर उपर्युक्त प्रश्न का वैयर्थ दिख जायगा। इसी कारण दिव्यचक्षुका बीज—जो सर्वत्र शब्दरूपमें है, प्रत्यक्ष अपरोक्षरूप में नहीं—नहीं कहीं विद्यमान रहनेके कारण, उसे उन स्थानों में दिव्यचक्षु अपरोक्ष रूपसे गोचर होने लगते है जिसे वह श्रीमायानन्दजी के या उनके अनुयायी-पुरुषोंके द्वारा प्राप्त हुए हों। और दिव्यचक्षुके श्रवणपूर्व कालीन निज भूमिका का विस्मरण होने से उन्हें यह भास होता है!। दिव्यचक्षु सर्वत्र हैं यह भास उनकी प्राप्ती के पूर्वकाल में न होकर पश्चात् कालमें ही होने लगता

है यही **दिव्यचक्षुकी करामात एवं वैशिष्ठ्य** है—असली करामात जिस वस्तुमें होती है उसका यही लक्षण रहता है। इस विषय में **"कोलबंस और अण्डा"** यह विश्रुत बात सबोंने ध्यान में रखकर विचार करना उचित है। आविष्कार लगाने के पेश्तर की स्फूर्ती और कृतीकाही महत्व रहता है; फिर तो वह तत्व सर्वसामान्य होजाता है। इस तत्वोंके अलावा "दिव्यचक्षु सर्वत्र हैं" इस प्रकार का जो आक्षेप है वह भी व्यर्थ है। दिव्यचक्षु शब्दस्वरूप में सर्वत्र हो सकते हैं (कहीं कहीं गीताके समान) किंतु अपरोक्षरूपमें एवं युक्ति-प्रदान दृष्टीसे यद्वत वे गीतामें नहीं है उसी प्रकार (सिवा 'दिव्यदृष्टी' के) अन्य किसीभी ग्रंथ में नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसिद्ध बात (Fact) है। अतः उसे प्रमाणित करनेकी आवश्यकता नहीं, वाचकगण स्वयं ग्रंथोंको खोजकर देख सकते हैं कि दिव्यचक्षु की प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात्कारी और पुरुषार्थी बनानेवाली युक्ति उनमें पायी जाती है या नहीं; अस्तु। श्रीभगवान् मायानन्द चैतन्यनें स्वकीय स्वयंस्फुरित भावनानुसार भारतवर्षमें '**दिव्यदृष्टी**' के सत्य अर्थका अभूतपूर्व आविष्करण करके, अद्वितीयत्वसे प्रतिपादन और बहुप्रचार करते हुए, जो सत-युग प्रवर्तक अप्रतिम कार्य किया है, धर्मव्यवस्थानके उस यशस्वी, चिरपरिणामी तथा महत्कार्यकी ओर यदि ध्यान दिया जाय, तो आशा है कि, भागवतपुराण के सिद्धांतकी सत्यता स्वानुभवतःही जच जायगी।

भविष्य-पुराण में एक श्लोक यह पाया जाता है कि—

स्मरणात् जन्मजं पापं दर्शनाच्च त्रिजन्मजम्।
स्नानात् जन्मसहस्रेषु हन्ति रेवा कलौयुगे॥

कलियुगमें रेवा मुक्तिदायिनी होगी यह जो सामान्य भविष्य इसमें किया गया है वह बडा सहेतुक है। इसके केवल शाब्दिक तथा रोचक अर्थका स्वीकार करने से उस तत्वका स्वारस्यही जाता रहता है। गंगातीरसे नहीं तो **रेवातीरसेही 'दिव्यदृष्टि' प्रगट हुई है** और इसी दिव्यदृष्टिके प्रचार के कारण रेवातीरमें सर्वत्र संत उपलब्ध होंगे जो दिव्यचक्षुवान बन गये हैं। उनसे अनुभव पातेही मुक्ति मिल सकती है। निरे गंगातीर में या रेवातीरमें आकर स्नान् करनेसे जन्मजन्मांतरोंके पापकर्म नहीं धुल सकते यह तत्व तो सामंजस्ययुक्त पुरुषोंको कबूलही करना होगा। जब सब रेवातीर मुक्तिदायी करने का महत्कार्य जिस दिव्यदृष्टी द्वारा होरहा है वह दिव्यदृष्टीका औपधर्म प्रदान करनेवाले " अवताररही " होना चाहिये यह बात माननी पडेगी।

[२]

विश्वरूप-दर्शन-मीमांसा

श्रीमद्भगवद्गीताके ग्यारहवे अध्यायमें विश्वरूप अर्थात् (विराटरूप) दर्शनके विषयमें व्यासजीनें जो विस्तार पूर्वक वर्णन किया है उस विषय में गीतापर भाष्य करनेवाले प्राचीन व आधुनिक आचार्य, साधुसंत तथा भारत व देश-देशान्तर के विविध भाषाभिज्ञ विद्वानोंकी विचार-प्रणाली को यथार्थ दृष्टीद्वारा अवलोकन करने से यह शंका उत्पन्न होती है कि, यह अपनी अपनी टीकाएं किसीनें भावनाधीन तथा किसीनें कल्पनामय होकर तो नहीं रचीं हैं? शंकाका कारण यह है कि, सदसद्विवेकबुद्धिपूर्वक इन टीकाकारोंके रोचक-भयानक वर्णनका विचार किया जाय और गीताके सिद्धान्त-वाक्यों से उनकी तुलना कीजाय तो उनका गीताके सिद्धान्तोंसे परमावधिका विरोध प्रतीत होता है। इसी कारणसे जनता को "**विश्वरूप**" का यथार्थ अर्थबोध होनेका मार्गही बंद होगया। इसलिये विराटरूपके विषयमें श्रीकृष्णजीके पश्चात् आजतक बडे बडे विद्वान व सर्व-सामान्य जनताका जो ख्याल हो बैठा है उसका सारासार दृष्टीसे विचार

करना नितान्त आवश्यक मालूम होनेसे गीताकेही आधारसे-विशेषत. ११ वे अध्यायकेही प्रमाणोंद्वारा—प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटीसे क्या सिद्ध होता है वह वाचकोंके सामने रक्खा है।

कोई टीकाकार ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि—(१) कृष्णजीनें अपना शरीर योगसामर्थ्यसे इतना बढाया कि वह आकाशभर फैल गया और वह बढाया हुवा विराटस्वरूपही अर्जुनको बतलाया. किसीका मत ऐसा है कि,—(२) कृष्णजीनें अपने मुखमेंही सब विश्वका दृष्य **केवल अर्जुनको** ही बतलाया था. कोई ऐसा कहते हैं कि,—(३) श्रीकृष्णजीनें योगसामर्थ्यसे विश्वके समान दूसरा भासात्मक दृष्य बतलाकर अर्जुन पर अपना प्रभाव जमाया. कोई ग्रंथकार ऐसा कहते हैं कि,—(४) अपने योगबलसे श्रीकृष्णजीनें अर्जुनके मेंदू (Brain, दिमाग) पर परिणाम करके उसकी दृष्टी बदल दी और विश्वरूप बतलाकर फिर उसका मेंदू पूर्ववत् कर दिया. और कोई शद्बज्ञानी वेदान्ती ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि,—(५) सामान्य "विश्वरूप" ज्ञानदृष्टीसे दिखनेवाला (ज्ञानसे समझने योग्य) होता है और वह केवल सिद्धान्तरूप (Theoretical) होनेके कारण श्रोताको उसका पूर्ण बोध नहीं होने पाता, इसलिये श्रीकृष्णजीनें

---

१ इस प्रकारका प्रतिपादन "विश्वरूप दर्शन" नामका एक पुस्तक श्रीयुत कृष्णरावजी खेरने (गुरसरॉय) लिखकर किया है. यहांपर जो विश्वरूप दर्शनकी कल्पनाओंके भिन्न भिन्न प्रकार दिये हैं उन्हींमें श्रीयुत खेर साहबकीभी कल्पना अंतर्गत होती है.

अपनी योगशक्तिसे प्रयोगद्वारा (Practically) चमत्कार (करामात) करके " विशेष विराटरूप " अर्जुनके चर्मचक्षु को बतलाया था. इस प्रकार अलग अलग विद्वानों के यह पांच परस्पर विरोधी मत पाए जाते हैं। इनको हम 'पूर्वपक्ष' नाम देते हैं। अब ११ वे अध्यायके श्लोकोंसे इनकी तुलना करके इन मतोंमें कहांतक सत्यत्व पाया जाता है वह देखें।

श्रीकृष्णजीनें दस अध्यायतक कथन किया हुवा गुह्य अध्यात्म-ज्ञान श्रवण करके अर्जुन कहने लगा, 'हे कृष्ण ! मेरे हितार्थ आपनें जो कथन किया उससे मेरा मोह मिटा है (ऐसा मुझे मालूम होता

---

२. यद्यपि गीता व्यासजीकी बनाई हुई है, युद्धमें १८ अध्याय नहीं कथन किये, तथापि संवादरूपमें गीताकी रचना होनेसे उसी दृष्टीसे यहां ऐसा लिखा है।

३. ' मेरा मोह नष्ट होगया ' ऐसी दस अध्याय तक अर्जुनकी निरी कल्पनाही थी; वास्तव में उसका मोह पूर्णतया नष्ट नहीं हुवा था। कारण, केवल शब्दज्ञानजनित, माने हुवे, विश्वास से तत्वतः मोहनाश नहीं हुवा करता है। मोहनाश होनेके लिये अपरोक्षानुभवकीही आवश्यकता हुवा करती है। दूसरे यह कि इस विषय में स्थूलतः दो प्रकार के प्रश्न होते हैं—मुमुक्षु-अवस्था के अथवा परोक्षज्ञानावस्था के जिज्ञासादर्शक प्रश्न, और अपरोक्षानुभव होनेके पश्चात् वह स्थिर रहने के हेतु साधनोपायसंबंधी शंका समाधानके हेतु-युक्त प्रश्न। ११वे अध्यायके आरंभ तक अर्जुन के प्रश्न ' ब्रह्मजिज्ञासा ' के हैं। और १२वे अध्यायसे आगे के प्रश्न दिव्यचक्षुसे मिला हुवा अनुभव और आनंद स्थिर कैसे रखना इस विषयके हैं। कारण, ' यत ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते। ' ऐसा गीता कहती है कि जो (अपरोक्षतः प्रत्यक्षानुभवसे)

है)। आपने अपने अव्यय स्वरूपका जो महत्व **कथन** किया वह **अव्ययस्वरूप देखनेकी** मुझे इच्छा हुई है इसलिये, हे प्रभो! आपके **अविनाशीस्वरूपको** यदि में देख सकता हूं ऐसा आपको शक्य मालूम हो तो मुझपर कृपा करके वही अव्ययस्वरूप आप मुझे **प्रत्यक्ष दिखलाइए**'।

यह अर्जुन की प्रार्थना सुनतेही श्रीकृष्णजीनें स्वाभाविक रीतिसे उसे कहा:—'**पश्य मे पार्थ रूपाणि इ०**' (श्लोक ५ अ. ११) "हे अर्जुन! ये मेरे अनेक प्रकारके, अनेक रंगके, अनेक आकृतियों से युक्त **सैकडों** किंबहुना **हजारों** दिव्यरूप तू देख"

यहां यह बात ध्यानमें रखना अवश्य है कि, 'मैं अब अपना रूप बढाता हूं' इत्यादि कुछ भी न कहकर और देह बढानेकी कोई चेष्टा न करते हुवे श्रीकृष्णजीनें तत्कालही विश्वरूप देखने के लिये उपरोक्त शब्दोंमें अर्जुन को कहा। 'मुझे अपना अव्यय **एक रूप** (रूपाणि नहीं) बताओ' ऐसा अर्जुनका एकवचनी प्रश्न था, परंतु उत्तरमें 'सवाल दीगर, जबाब दीगर' इस न्यायसे अनेक आकार, अनेक रंग, अनेक रूप आदि काल, आकार, मर्यादा दर्शक बहुवचनी

जानने के पश्चात् कुछ और जाननेका बाकी नहीं रहता है, केवल स्वरूपानुभव की अखंड स्थिति रहने के हेतु प्रश्न हुवा करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ११वे अध्यायके शुरूतक (अर्थात् दिव्यचक्षु मिलनेके पहिले तक) अर्जुनका मोह तत्वतः नष्ट नहीं हुवा था। माने हुवे और जाने हुवेमेंका यह सूक्ष्म भेद तीव्र बुद्धिवान लोकोंही ध्यानमें आता है, सामान्य मनुष्यों के नहीं।

प्रयोग आये हुवे हैं, एक तो यह अप्रयोजकता भासेगी और इस कारण, 'यद्दृष्टं तन्नष्टम्' इस वेदान्तके वाक्यानुसार जो अनेकरूप देखने को कहा वे अव्यय नहीं होसकते, इसलिये विरोध भी पडता है. इसका चमत्कारवादी (पूर्वपक्ष) लोगोंनें बिचार नहीं किया है।

'**इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं इ०**' (श्लो. ७) इस श्लोकमें 'इह' 'एकस्थं,' 'सचराचरम्,' 'कृत्स्नं', 'मम देहे' और 'यच्चान्यद्दृष्टु-मिच्छसि' ये शब्द बहुत कुछ विचारणीय हैं।

विश्वरूप का अर्थ कालमर्यादायुक्त साकार 'विशिष्ट विराटदेह' ऐसा माना जाय तो वह विशिष्ट विराटदेह भी सचराचर विश्वमें-काही एक अंग है यह बात पूर्वपक्षको माननाही पडेगी, क्योंकि यह उनकाही कथन है। वह **इस विश्वमें** होनेके कारण पूर्वपक्षका विशेष विराटदेह मर्यादित और यह विश्वरूप अमर्याद है, अतएव उससे यह व्यापक सिद्ध होता हैं; और मर्यादित वस्तु कभीभी अमर्याद नहीं होसकती यह सिद्धान्त है। इस कारणसे, पूर्वपक्ष प्रतिपादित 'विशेष विराटरूप' 'कृत्स्नं' (संपूर्ण) नहीं कहलाया जा सकता; और जो संपूर्ण नहीं वह विश्वरूप भी नहीं. पुनः एकही समयमें दो संपूर्ण वस्तुओं का भाव मानना सिद्धांतविरुद्ध अतः असंभवभी है. इसलिये उसको विश्वरूप नाम देना भी अयुक्त है। यदि विशेष विराट देह को ही पूर्ण मानें तो वह इस (प्रथमसे ही अस्तित्वमें होनेवाले) विश्वमें उत्पन्न होने के कारण पूर्ण नहीं हो सकता. इससे यह सिद्ध है कि

---

४. संपूर्ण श्लोक 'दिव्यदृष्टी' ग्रंथ में दियेही हैं, वहां देखना।

'संपूर्ण—कृत्स्नं', 'सचराचरम्' ये नाम इसी सनातन विश्वरूप में यथार्थतः घटते है. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि, 'इह', 'एकस्थं' (इसी एकही स्थान पर स्थितीवाले), 'मम देहे' इन शब्दोंके हेत्वर्थ श्रीकृष्णजी की यथार्थ-अनुभवी-दृष्टीसे कुछ और ही होना चाहिये, जिससे सिद्धांतों को विरोध न होते हुवे गीता के श्लोकों की परस्पर संगति सबके अनुभव से मिलतीं जाय। 'मम देहे' का अर्थ रोचक-प्रिय लोगोंके मतानुसार, 'स्थूल चर्मचक्षुको दिखनेवाले मेरे साडे तीन हात लंबे शरीरमें' ऐसा किया जाय, तो प्रथमतः उपरोक्त श्लोकसे ही विरोध पडता है. मेरे हजारों रूप देख ऐसा पहिले कह चुके हैं और यहां कहते हैं कि, मेरे देहमें संपूर्ण विश्व तू देख. अब विचार करिये, स्थूल साकार वस्तुके संबंधमें ऐसा नियम है कि, किसी एक आकार युक्त वस्तुमें उसी सदृश, उतने ही आकार की अनेक वस्तुएं नहीं रह सकतीं. इसलिये पूर्वपक्ष के विशेष विराटरूप में दूसरा यह विराट विश्वरूप रहनाही पूर्णतया असंभव है. इससे यह सिद्ध है कि, पूर्वपक्ष की स्थूल विशेष विराटदेह की भावना केवल कल्पित तथा पूर्ण निराधार है।

'**न तु मां शक्यसे द्रष्टुं इ.**' (श्लोक ७) इस वाक्यसे क्या सिद्ध होता है? किसीभी संस्कृत उपन्यास में, काव्यमें अथवा प्रश्नोत्तर रूपात्मक ग्रंथमें, अथवा महाभारतकाही विचार करिये तो, यही प्रथा दृष्टिपथमें आती है कि जिस पात्रके मुखसे कुछ प्रश्न वा संवाद कहलाना हो, उसके नामके आगे "उवाच" यह शब्द लगाया जाता है और जबतक वह अथवा इसके सदृश दूसरा शब्द और

दूसरे व्यक्तिका नाम न आवे तबतक पहिलेही व्यक्तिका कथन चल रहा है ऐसा समझा जाता है। इस नियमानुसार 'दर्शयात्मानमव्ययम्' (श्लोक ४) इस अर्जुनके प्रश्नपर उत्तरदाताका नाम "श्रीभगवानुवाच" (अर्थात् **श्रीकृष्ण** बोले ऐसा है)। इससे यह स्पष्ट है कि, 'पश्य मे पार्थ०' से लेकर 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः०' (५-८) तक **श्रीकृष्णकाही भाषण** समझना पूर्णतया पक्षपातरहित है।

अब यहां पूर्वपक्षके रोचक भावानुसार कैसा विरोध आता है वह देखिये। विशेष विराटरूप माननेवालोंकी कल्पनानुसार 'पश्य मे' यह श्लोक कहनेके समयसे कृष्णजीनें अपना साडे तीन हाथका रूप बदलकर बडा स्थूल रूप (जैसा कि बिचारे अज्ञानी चित्रकार प्रायः बनाया करते हैं) बढाया और वही देखने के लिये उन्होंनें अर्जुनसे कहा; अर्थात् स्वरूप बढाने के समयसे अर्जुनके सामने श्रीकृष्णनाम की साडेतीन हात लंबी कोई व्यक्ति न थी। कारण, आगे 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुं०' (तू मुझे इन स्थूल आंखोंसे नहीं देख सकेगा) ये शब्द हैं। यहांपर पूर्वपक्षके मतानुसार मुझे याने विश्वरूपको नहीं देख सकेगा ऐसाही अर्थ लेना चाहिये; मुझे याने श्रीकृष्णको ऐसा अर्थ यहां नहीं कर सकते। कारण, कृष्णके देहको देखना तो अशक्य न था; कृष्ण को तो अर्जुन पहिलेसेही देख रहा था। अर्थात् (पूर्वपक्षके मतानुसार) कृष्णरूप बदलकर जो विराटरूप हुवा उसीनें 'न तु मां शक्यसे०' यह श्लोक कहा हुवा मानना पडेगा। परंतु 'श्रीभगवानुवाच' (अर्थात् 'श्रीकृष्ण बोले' यहांसे **श्रीकृष्णजी**

काही भाषण होते हुवे उसके आगे कहींभी 'विश्वरूपोवाच' यह वक्ताके तब्दीलीकी (बदलनेकी) सूचना नहीं आई है (महाभारत की प्रथाके अनुसार वक्ता बदलतेही दूसरे वक्ताका नाम आनाही चाहिये था); इसलिये 'पश्य मे पार्थ०' से लगाकर 'न तु **मां** शक्यसे..........पश्य **मे** योगमैश्वरम्।' (५-८) तक **चारों श्लोक श्रीकृष्णजीके**ही कहे हुवे हैं ऐसा जानना न्याय्य है, और ये चारों श्लोक कृष्णजीकेही हैं इस हमारे निर्णय की सत्यता उसीके आगे संजयकी उक्ति 'एवमुक्त्वा........महायोगेश्वरो **हरिः** (९)' इस श्लोकसे पूर्णतया सिद्ध होती है। अतः जबकि (५-८) ये चारों श्लोक श्रीकृष्णोक्तही सिद्ध होचुके, तो इन चारों के अंततक श्रीकृष्ण-जीनें अपना स्वरूप बढाया नहीं था यह भी अपने आपही सिद्ध होता है। अब यहां सूक्ष्म दृष्टीसे विचार करिये कि, अपना स्वरूप न बढाते हुवे अर्थात् विराटरूप धारण किये बगैर ही 'तू मेरे अनेक रूप देख, वसु देख, आदित्य देख इ०' कहनाही वृथा था और इसपरभी याने विराटरूप धारण न करतेही वह देखनेको अर्जुन को असमर्थ (अयोग्य,'न तु मां शक्यसे') ठहराना यह बात सर्वथैव अनुचित है. कारण, एक तो कृष्णजीने स्वरूप बढायाही नहीं (यह ऊपर सिद्ध होचुका है), और (अर्जुन को योंही कह दिया कि तू मेरे में सब कुछ देख. दूसरा कारण यह है कि बढाया हुवा विराट स्वरूप अर्जुनको न दिखता तो वह स्वयं कहता कि 'तुमनें धारण किया हुवा रूप मुझे नहीं दिखता' और तभी विश्वरूप पुतलेनें उसको 'न तु मां शक्यसे' यह श्लोक कहना उचित होता। इसके

अतिरिक्त एक और भी विरोधापत्ति आती है कि श्रीकृष्ण के स्थूल देहको जब कि अर्जुन पहिलेहीसे देखरहा था तो इससे भी बड़े विराटरूपके स्थूल देहको वह क्योंकर नहीं देख सकता? कारण, स्थूल मात्र सब चर्मचक्षुको दिखना चाहिये यह सिद्धान्त है. तथापि ऐसा भी मानें कि अर्जुन विश्वरूपको न देख सकता, तोभी उसके सन्मुख विश्वरूप आना तो चाहिये था और फिर यदि वह उसे न देख सकता तभी 'नतु मां शक्यसे०' कहकर अर्जुनकी विश्वरूप देखने की अपात्रता (अयोग्यता) सिद्ध होती। इससे यह स्पष्ट है कि 'योगमैश्वरम्' (श्लोक ८) तक विशेष विराट देह धारण नहीं किया था। और यदि किया होता तो 'पश्य मे पार्थ' के पहिलेही 'विश्वरूपोवाच' आना चाहिये था। इस पर यदि कोई ऐसा तर्क करे कि, अर्जुन की अयोग्यता पहिले ही अपने मनमें जान श्रीकृष्णजी नें 'न तु मां शक्यसे—दिव्यं ददामि' यह कहा होगा, तो क्या बाधा आती है? इसका उत्तर यह है कि, विशेष विराटरूप पहिले (पश्य मे पार्थ) बतलाकर पश्चात् तू मुझे नहीं देख सकता, विना दिव्यचक्षुके विराटरूप नहीं दिख सकता, ऐसा कहकर फिर दिव्यदृष्टी देना यह उलटा रास्ता हुवा। जब कि श्रीकृष्णजी अंतर्ज्ञानी माने जाते हैं, तो उन्होने अर्जुन की विश्वरूप देखने की अपात्रता 'पश्य मे पार्थ' कहने के पहिलेही जान लेना चाहिये थी, और 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुं' यह पहिले कहकर फिर 'दिव्यं ददामि' के अनुसार दिव्यचक्षु

---

५ यह 'दिव्यदृष्टि' ग्रन्थ में सिद्ध हो चुका है.

देकर पश्चात् 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' यह कहना सुयोग्य होता. उपरोक्त विवेचन से सूक्ष्म विचारी पाठकोंके यह ध्यान में आया होगा कि, 'विशेष विराटदेह' को रूप, रंग, आकार, काल, मर्यादा आदि से युक्त विराट स्थूलरूप माना जाय तो कितनेही परस्पर विरोध और अनुभव विपरीत अनर्थ उत्पन्न होते हैं. अतः पूर्वपक्षकी कल्पनाएँ (श्रीकृष्णजीका विराट स्थूलरूप धारण करना) केवल मनः-कल्पित तथा अनुभवहीन होने के कारण पूर्णतया अग्राह्य प्रतीत होती हैं।

इस का और भी सबूत देते हैं। 'न तु मां' इस श्लोक के पश्चात 'संजय उवाच' है, याने आगे संजय धृतराष्ट्र राजा को कहता है कि, "हे राजा, इस प्रकार (याने 'न तु मां शक्यसे'—तू मुझे नहीं देख सकता यह) कहकर उस **हरि** (कृष्ण) नें अर्जुन को अपना परम-ऐश्वर्य युक्त स्वरूप बतलाया." पहिले यह सिद्ध कर ही चुके हैं कि 'न तु मां' तक भाषण श्रीकृष्णका ही था; उसी की पुष्टि यह संजयोक्त श्लोक भी करता है कि कृष्णजीनें अपना रूप बदला नहीं था, न स्थूल रूप धारण किया था. कारण यह है कि भाषा में जब ऐसा प्रयोग आवे कि, 'किसी एक व्यक्ति नें ऐसा **कहकर** ऐसा ऐसा **कर्म किया**' तो उससे यह स्पष्ट होता है कि, कर्म बाद में हुआ, कहना (बोलना) पहिले हुआ. अर्थात् संजय के 'एवमुक्त्वा' इस श्लोक के पहिलेके सब श्लोक 'हरि' (कृष्ण) केही थे, विश्वरूप के न थे—यह निःपक्षपातरीतीसे सिद्ध होता है. अब यहांपर प्रश्न यह उत्पन्न होता

है कि, 'दिव्यं ददामि तक' जब श्रीकृष्ण व्यक्ती ही बोल रहे थे, स्थूल देह नहीं बदला था, तो 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' (मेरे तू अनेक रूप देख) ये कौनसे रूप देखने को श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा ? 'मम-देहे' मेरे देहमें अनेक रूप देख इसका हेतु क्या है ? सारांश, **श्रीकृष्णजी नें अपना रूप बदल कर स्थूल विराट रूप धारण किया था यह बात गीता द्वारा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती.** अर्थात् 'मम देहे', 'विराटरूप, विश्वरूप' इन शब्दोंका यथार्थ हेतु विश्व ही होता है. एवं, विश्वरूप जो बतलाया वह कुछ **स्थूल देह बढाकर नहीं बतलाया,** किंतु सत्रूप परमात्मा का यही विश्वस्वरूप सिद्ध करके बतलाया. किंतु यह ज्ञान-दृष्टीसे नहीं दिख सकता, 'दिव्यचक्षु से' ही इसका सिद्धीकरण तथा बुद्धिजन्य निश्चय हो सकता है. इसीलिये (दिव्यदृष्टी) देना पडी; ज्ञान-दृष्टी तो १० अध्याय तक देही चुके थे.

अब दिव्यचक्षु से अर्जुन नें जो विश्वरूप देखा वह कैसा, क्या देखा इस संबंध में संजयने किये हुए वर्णन से तथा स्वयं अर्जुनके जो शब्द हैं उनसे क्या सिद्ध होता है उसका सारासार विचार करें.

'संजय उवाच—एवमुक्त्वा इ०' (श्लोक ९)—"संजय बोला, हे धृतराष्ट्र ! महान् **योगैश्वर्य** संपन्न हरि (श्रीकृष्ण) ने इस प्रकार

---

६ 'यह विश्व देखने के लिये 'दिव्यदृष्टी' की क्या आवश्यकता है ?' ऐसी पृच्छा होनेका संभव है. इसका उत्तर इसके अंत में दिया है

७ इसके पहिलेही के श्लोक में श्रीकृष्णजी ने 'मैं दिव्यचक्षु देता हूं' ऐसा अभिवचन दिया था. इसलिये 'दिव्यचक्षु' तो अवश्यही दिये थे परंतु

कहकर अर्जुन को अपना **परम-ऐश्वर्य-युक्त** रूप बतलाया." यहां केवल योग शब्द का प्रयोग न करते हुवे **परमयोग** ऐसा संजय ने कहा है. योग शब्दका रूढ अर्थ पातंजल योग, हठयोग, कर्मयोग, ज्ञान-योग आदिमें से समयानुसार कोई एक समझा जाता है. परंतु परम-योग यह विशेषणयुक्त प्रयोग सब योगोंमें कुछ विशेष लक्षणको सूचित करता है। परम नाम सबसे श्रेष्ठ। अतः सबसे श्रेष्ठ वस्तु वा ध्येय की प्राप्ति जिस योगसे होती है वह परमयोग है. सबसे श्रेष्ठ परमात्मा है; अर्थात् जिस योगसे परमात्मा की प्राप्ती (याने परमात्माको अप-रोक्षानुभूति) होती है वह परमयोग (महायोग-विज्ञानयोग) है यह स्पष्ट है परमात्मा का अनुभव करादेनेवाला भी एकही योग होता है, अनेक नहीं हुवा करते, ऐसा गीताका सिद्धांत है। यदि कोई पातंजल योग को परमयोग कहे तो वह योग्य नहीं; कारण वह क्रियासे सिद्ध होता है, परंतु परमात्मानुभव क्रिया से प्राप्त नहीं होता. इसपर भी आगे के 'नच क्रियाभिः' इस श्लोक पर कोई शंका करे कि, उस

वे कैसे और किस युक्तीसे दिये इस बातका कहींभी उल्लेख व स्पष्टीकरण न होते तुरंतही गीतामें संजयका भाषण शुरू होना पाया जाता है। भगवद्गीतामेंकी सबसे महत्व की बात तथा परमात्मानुभव की गुरुकुंजी (परंपराप्राप्तयुक्ति) 'दिव्यदृष्टी' ही साबित होते हुवे भी उसका उल्लेख वा सिद्धिकरण किसी ग्रंथमें नहीं पाया जाता यह एक आश्चर्य पूर्ण बात है! इससे यहभी स्पष्ट कहनेमें कोई प्रत्यवाय नहीं कि यह 'दिव्यदृष्टी' ग्रंथ सब ग्रंथोंमें विभूतिस्वरूप है, कारण इसमें अज्ञात रहे हुवे 'दिव्यचक्षु' का यथार्थ आविष्कार सयुक्तिक, व सप्रमाण, सबको सुलभ किया हुवा है।

८. **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गी. ६·२२)

श्लोकमें तो विश्वरूपके दर्शन के संबंधमें उल्लेख है, परमात्मस्वरूप के दर्शनका उससे क्या संबंध है ? तो यह शंका सहजमें मिट सकती है. इसका समाधान आगे (उस श्लोकका विचार किया है वहां) दिया है। यहांपर सुविचार योग्य मुद्दा यह है कि, महायोगसे युक्त जो **हरि (कृष्ण) उन्होंने** परमयोग का ऐश्वर्य बतलाया. अर्थात् पूर्वोक्त विवेचन ध्यानमें रखकर विचार किया जाय तो उसका यह अर्थ होता है कि, महा याने विज्ञानयोग के ऐश्वर्य से युक्त जो श्रीकृष्ण उन्होंने परमं रूपका-विज्ञानका-ऐश्वर्यरूप बतलाया। विज्ञान का ऐश्वर्य कौनसा ? विज्ञानका ऐश्वर्य अर्थात् "जो पिण्डमें वही ब्रह्माण्डमें," 'तत्वमसि,' 'विश्वंविष्णुः' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'वासुदेवः सर्वमिति,' इत्यादि वाक्योंका (केवल वचिक ज्ञान नहीं किंतु) प्रत्यक्ष सिद्धीकरणसे प्रतीति होना यह है। और ऐसी प्रतीति परंपराप्राप्त सद्गुरुवचन व तदनुसार बुद्धिको निश्चय करानेवाली रीति (प्रयोगपद्धति वा युक्ति) से होती है। सारांश यह कि, अर्जुन को यह परमात्मानुभव की युक्ति दर्शित करके अपने अव्यय विराट स्वरूप की—काल, मर्यादा, आकार इत्यादि

---

९. अनुभव. १०. 'शाब्दे परे च निष्णातं' यह सद्गुरु का लक्षण है [श्रीभागवत ११ स्कंध] केवल 'शाब्दे निष्णातं' यह पंडिताईका लक्ष्ण है; परंतु सद्गुरुके लिये 'परे च निष्णातं' ये शब्द कुछ विशेष हेतु व सूक्ष्म विचारसे लगाए हैं। परे निष्णात नाम क्षराक्षरातीत जो पुरुषोत्तमपद उसके अनुभवमें पूर्णस्थिति होना है. इसके लिये स्थूलतः 'विज्ञानी' इस अध्यात्म-शास्त्रकी परिभाषाके शब्द का सर्वत्र उपयोग किया है.

विकाररहित याने आद्यन्तरहित—स्वरूप की व्याप्ति प्रत्यक्ष दिखलाई; (और 'आत्मानं अव्ययं दर्शय' यही अर्जुन का प्रश्न भी था.

ऊपर जो आलोचना की है उससे पाठकों के ध्यान में आया होगा कि, श्रीकृष्ण नें अर्जुन को दिव्यचक्षु देकर जो रूप बतलाया उसका ऊपर के अर्थ से भिन्न दूसरा अर्थ (रूप, रंग, आकार, मर्यादा युक्त विशेष विराटशरीरवाला ऐसा अर्थ) करने से अनेक विरोधापत्ति प्राप्त होंगी.

पूर्वपक्षके मतानुसार विराट रूप के विषय में जो पांच कल्पनाएँ इस लेख के आरंभ में दीगई है उनके स्थूलतः दो प्रकार होते हैं—(१) **सूक्ष्मरूप,** याने केवल कल्पना मय अतएवरूप, रंग, आकार विकारों से युक्त किंतु पंच ज्ञानेंद्रियों से ज्ञात न होसके जो केवल मनकोही भासता हो (इस व्याख्यामें पूर्वोक्त ४ थी कल्पना का समावेश है); और (२) ज्ञानेंद्रियों से जानने योग्य रूप, रंग, आकारादिकोंसे युक्त **स्थूलरूप.** (इस व्याख्या में पूर्वोक्त १, २, ३, ५, वीं कल्पनाओं का समावेश होता है. इन दोनों का अब विचार करें:—

(१) विशेष विराट रूप कल्पनामय होने के कारण वह अर्जुन के स्थूल चर्मचक्षुको न दिखसका ऐसा यदि माना जाय तो उसमें के सर्व दृश्य भी कल्पनामय ही थे, अर्थात् अव्यय न थे, असत्य थे—ऐसा अपने आप ही सिध्द होता है; और ऐसा काल्पनिक, असत्य एवं मिथ्या रूप बतलाने की अर्जुन नें प्रार्थना भी नहीं

की थी, उसे तो अव्यय रूप देखने की इच्छा थी; और कल्पना तो अव्यय नहीं हुवा करती। इसलिये विराटरूप केवल कल्पनामय मानना बुद्धी को बिलकुल अग्राह्य प्रतीत होता है. (२) विशेष विराटरूप यदि स्थूल माना जाय तो उसमें प्रकृति के शब्द स्पर्शादि अष्टविध भाव तथा वजन भी होना चाहिये. कारण, इनके अभावमें स्थूल होता ही नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्धांत है. इन आठोंमेसे जहां एक है वहां सभी हुवा करते हैं. अब विचार करिये कि अर्जुन को मोह हुवा उस समय रथमें बैठ कर ही (रथमें से नीचे दोनोंमेसे कोई भी नहीं उतरा था) श्रीकृष्णजी नें उसे 'दिव्यचक्षु' (का उपदेश सप्रयोग) देकर विश्वरूप दर्शन करवाया था यह बात तो गीताही के आधार से स्पष्ट है. अर्थात पूर्व पक्षकी कल्पनानुसार श्रीकृष्ण नें स्थूल विराट रूप धारण किया उसके पश्चात् ११ वाँ अध्याय समाप्त होने तक वह विराटरूपधारी व्यक्ति रथपर ही था और जब कि पूर्वपक्ष उसे विश्वरूप ही कहता है तो—(१) उसका आकार और वजन भी संपूर्ण विश्व के बराबर होना ही चाहिये (आगे वर्णन भी ऐसाही है). फिर वह संपूर्ण विश्व उस जरासे रथ में कैसे समाया ?, संपूर्ण विश्वरूप का वजन वह रथ—वह कर्णादिकों के बाणों से टूटनेवाला रथ कैसे सह सका ? (२) यदि माना जाय कि वह रूप वायुके

११. प्रत्यक्षके लिये कोई प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती, तोभी निम्न प्रमाण अत्यंत महत्वका है:—' परस्पराश्रिता ह्येते परस्परमनुव्रताः। परस्परेण वर्तंते धारयन्ति परस्परम्। अन्योन्यमिथुनाह्येते ह्यन्योन्यमुपजीविनः। क्षणं वियोगो न ह्येषां न त्यजंति परस्परम् ।',

समान हलका होगा तोभी वह गलत है. कारण, वायुके समान हलका हो तो उसके सब गुण वायुके समानही होना चाहिये यह न्याय्य है। वायुमें शब्द और स्पर्श यही दो गुण हैं; स्थूल रूपगुण (याने दिखनेका स्वभाव) न होने से वायु दिखता नहीं. वायु जैसा हलका है परंतु दिखता नहीं, वैसाही वह हलका माना हुवा स्थूल विराट विश्व रूप का चर्मचक्षुको दिखना भी असंभव सिद्ध होता है. किंतु, स्थूल जड वस्तु तो चर्मचक्षुको दिखना ही चाहिये यह उसका स्वयंसिद्ध स्वभाव है. इस तरह इससे भी पूर्वपक्ष का मत सिद्ध नहीं होता. (३) चूंकि आगे के श्लोक में 'व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः' ऐसा कहा है और यदि उस स्थूल विशेष विराट रूप ने सर्व व्याप्त किया था तो अर्जुन, उसका रथ, तथा दोनों ओर कीं सेनाएँ सब कुछ व्याप्त किया था यह स्पष्ट है. परंतु, **व्याप्य वस्तु व्यापक को नहीं व्याप सकती यह सिद्धान्त है.** फिर व्याप्य जो अर्जुन, संजय, तथा अन्यान्य लोगें उस स्थूल विराट के भीतर रहकर (क्योंकि उसे व्यापक माना है) स्थूल विराटको ही कैसे देख सके? उदाहरण के लिये--घरके भीतर का (व्याप्य) मनुष्य घरके भीतर रहकर (व्यापक जो घर) उसे कैसे देख सकेगा? यदि ऐसा कहें कि मनसे देखा होगा, तो वह स्थूल रूप सत्य नहीं, काल्पनिक मानना पडेगा. इसलिये कल्पित रूप सूक्ष्म होने के कारण चर्मचक्षु को नहीं दिख सकता. (४) रूपआकारादिकोंसे युक्त मर्यादित स्थूल विराट

१२ 'दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्' ऐसा अर्जुन ने कहा है.

देह एकही समय अनेकों को दिखनाही चाहिये यह सिद्धांत है; कारण यह स्थूल वस्तुका अटल स्वभाव है; और ऐसा रूप यदि हो तो वह रूप आद्यन्तवान् भी होगा. इसलिये आदि—अंतवान् रूप अव्यय (याने 'अक्षर') कैसे होगा? परन्तु अर्जुन ने 'त्वमक्षरं परमंवेदितव्यम्' इस प्रकार विश्वरूप की आगे स्तुति की है वह तो यथार्थ है. इसके अतिरिक्त, ऐसा स्थूलरूप माना जाय तो पूर्वोक्त सब शंकाएँ यथार्थ समाधानरहित ज्यों की त्यों बनी ही रहती हैं. अर्थात् पूर्वपक्ष के मन्तव्यानुसार स्थूल वा सूक्ष्म दोनों रूपों की धारण-विसर्जन-रूपात्मक चमत्कार-दृष्टी की भावना श्रीकृष्णजीपर घटती नहीं यही सिद्ध होता है।

'**अनेक बाहूदर इ०**' (श्लो. १६) पीछे संजयने जो ११ वें श्लोक में विश्वरूप का वर्णन किया है वैसाही यह प्रत्यक्ष देखकर अर्जुन ने भी किया है. यदि यह एक स्थूल शरीरधारी विराटरूप माना जाय तो एक शरीर सर्वतः (सबठौर), अनंतरूप किसी प्रकार से भी नहीं दिख सकता; कान की जगह ही कान, आंखों की जगह आंखें इत्यादि अपने २ स्थानों में ही भिन्न भिन्न इन्द्रिय हुवा करते हैं; पैरोंमें कान नाक नेत्र लगे हुवे नहीं होते. फिर अर्जुनने पूर्वपक्ष कथित वि. विराट शरीर के चरणों में आंखें मुखादि; सिरमें पैर व पैट, पीठ में पैर इ० सर्वत्र सब इन्द्रिय कैसे देखे? इसलिये, स्थूल शरीर को ब्रह्मांड तक बढाने की तर्कहीन कल्पना केवल भावना में फसे हुवे लोकही कर सकते हैं. जिसमें सत्य सिद्धान्त व अनुभव का कोई बल नहीं ऐसी बाते अनंत कालतक मानने माननेमेंही रहती हैं; अस्तित्वानुभव में

नही हुवा करतीं; और शरीर कहते ही उसे आदि व अंतभी होता ही है इसलिये उसे (वि. वि. रूप को) आदि अंत मध्य रहित भी नहीं कह सकते।

'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् इ.' (श्लो. १८) जो रूप केवल मनको ही भासनेवाला होता है वह सत् नहीं कहलाता; अतः असत् को (उपरोक्त श्लोकानुसार) 'जानने योग्य, सब में श्रेष्ठ तथा ज्ञेय ब्रह्म तूही है' ऐसा कहना अंधकार को सूर्य कहने समान क्या हास्यास्पद नहीं ? कल्पनामय रूप को परब्रम्ह कहना याने ब्रम्ह के ऊपर काल्पनिकता का—असत्—का आरोप करने समान है. किंतु परब्रम्ह तो प्रत्यक्ष अस्तिभातिप्रियस्वरूप है. इसलिये, अर्जुनने **जिसकी स्तुति की वह विश्वरूप**—(किसी तरह से भी हिपनॉटिझम् से भासनेवाले कल्पित प्रकारों के समान स्थूल या सूक्ष्म **देहधारी एक व्यक्तिरूपात्मक सिद्ध नहीं होता।**

अर्जुन नें जो विश्वरूप देखा उसका संजय नें किया हुवा वर्णन (श्लो. ९-१४) और अर्जुननें प्रत्यक्ष देखकर निजानुभव से किया हुवा वर्णन इन दोनों में साम्यता पाई जाती है तब दोनों को विश्वरूप दिखा था यह सिद्ध होता है. दूसरा प्रमाण यह कि, व्यासजी की कृपा से (सलाह व शिफारस) से संजैय की आयोजना रणवृत्तवाहक दूत (War correspondant) की जगह की गई थी इसीसे श्रीकृष्णार्जुन-संवाद (गीताबोध) के समय वह (संजय)

---

१२ '**संजय की दिव्यदृष्टि**' यह छोटीसी पुस्तक देखें. उसमें उपरोक्त विधान महाभारत के अनेकानेक आधार से पूर्ण सिद्ध किया हुआ है.

अर्जुन के रथ के पास ही था. यहां विचारणीय मुद्दा (Point) हा है कि, विना '**दिव्यदृष्टी**' के विश्वरूप नहीं दिख सकता, और वह दिव्यदृष्टी केवल अर्जुन को दी थी तो संजय को विश्वरूप कैसे दिखा ? अर्थात्, जैसी कि पूर्वपक्ष की कल्पना है वैसी, दिव्यदृष्टी कोई मेस्मेरिझम अथवा आंखोपर हाथ फेरकर दृष्टी बदल ने का चमत्कार भी नहीं. थोडी देर मान भी लीजिये कि कृष्ण ने कुछ जादू टोना अथवा योगशक्ति से अर्जुन के दृष्टी में फरक कर दिया होगा तो वह प्रयोग केवल अर्जुन पर ही किया था, न कि संजय पर; फिर संजय पर कोई प्रयोग न करते हुवे उसे विश्वरूप कैसे दिखा ? पूर्व-पक्ष के समान रोचक दृष्टी में यह गूढ रहस्य बनाही रहता है. इस गूढ रहस्य का यथार्थ दृष्टी से हो पता चल सकता है. यहां तक के विवेचन से हमारे पाठक जान सकते हैं कि, इस विश्वका परम निधान-परमात्मतत्त्व-जिसदृष्टी करके दिखसकता है वही '**दिव्य**-(अलौकिक-असामान्य) **दृष्टी** " है. मेस्मेरिझम् वा अन्यान्य भावना प्रयोगोंद्वारा तन्द्रामें भासने वाला स्वप्नवत् कल्पित दृष्य विश्वका परम निधान कदापि नहीं हो सकता, और न वह किसी प्रकार अविनाशी, सत्चित् आनंदरूप भी सिद्ध हो सकेगा. अर्थात् जिस योगसे श्रोताओं की पिंड ब्रह्माण्ड

---

(१४) 'नतुमांशक्यसेद्रष्टुं' यह कृष्ण का वाक्य है. (१५) 'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य इ. (गी. १८-७५) ये स्वयं संजय के शब्द हैं; बगैर देखे वस्तु का स्मरण नहीं हुवा करता. (१६) इसीको 'सर्वांगयोग' कहते हैं वह दिव्यदृष्टी के युक्ती से सद्गुरु द्वारा प्राप्त होता है. अत्यंततीव्र अधिकारी को दिव्यदृष्टी ग्रंथ वा सर्वांगयोग पुस्तक से भी हो सकता है. इसके हमारे पास पत्र मौजूद हैं.

से एकात्मता सप्रयोग सिद्ध होती है वही सद्गुरु की युक्ति यथार्थ "दिव्यदृष्टी" है।

'**अनादिमध्यान्त** इ०' (श्लोक. १९) इस श्लोक में अर्जुन ने विश्वरूप को काहा है कि सूर्य चंद्रमा ये तेरे दो नेत्र हैं. परन्तु १६ व २३ वे श्लोक में 'अनेक बाहूदर वक्त्र नेत्र' ('तेरे **अनेक नेत्र** हैं') ऐसी स्तुति की है इसी प्रकार पाहिले (श्लोक. १०) संजय ने भी '**अनेक वक्त्रनयनम्**' ऐसा विश्वरूप का वर्णन किया है. यदि पूर्वपक्ष के मतानुसार एक देहधारी विराटरूप माना जाय तो उस देह को एक ही समय द्विनेत्री व अनेक नेत्र वाला मानना अयोग्य होगा. कारण, द्विनेत्री उसेही कह सकते हैं जिसे केवल दो नेत्र हों, दो से अधिक आंखें न हों और (द्विनेत्री के प्रयोग के पश्चात् [१७] अनेक नेत्री प्रयोग आने से अनेक नेत्री उसी को कह सकते हैं जिसको दो से अधिक आंखें हों. इसलिये एक देहधारी को एक समय सिर्फ दो आंखोंवाला व अनेक आंखोंवाला मानना तर्कसंमत नहीं. द्विनेत्री कहते ही 'अनेकवक्त्रनयनम्' झूठ ठहरता है, और अनेक नेत्रों वाला कहने से संस्कृतभाषा के नियमानुसार (द्विनेत्री) 'शशि सूर्य नेत्रम्' कहना झूठ ठहरता है. ऊपर जैसा दो और अनेक

(१७) यहां एक से अधिक को अनेक याने दो को भी अनेक ऐसा कहना पूर्वापर संबंध देखने से तथा संस्कृत नियम से भी अनुचित होगा. दो से अधिक को ही अनेक कहा गया है यह पूर्वापर श्लोकों से सिद्ध होता है हिंदी मराठी में एक वचन और बहुवचन नहीं माने हैं परन्तु संस्कृत में द्विवचन और अधिक माना है जो केवल दो को ही लगाते हैं.

नेत्रों के वर्णन का उदाहरण आया है, वैसा ही २० वे श्लोक में केवल **एक ही मुख** का वर्णन आया हुवा है तो १६ वे में अनेक मुख का आया है. यदि तात्विक दृष्टी से विचार किया जाय तो यह भी विसंगति दोष कवि पर आता है. लेकिन अपनी भावनाजन्य स्थूलरूप की उपपत्ती मानकर उसीको सिद्ध करने के लिये कवीपर दोषारोप करना अथवा अनुभव का बल छोड देना सर्वथा अनुचित होगा. इसमें दूसरी बात यह भी है कि, पूर्वपक्ष के मन्तव्यानुसार धारण किया हुवा (आदि, मध्य, अन्तवान) स्थूलरूप कृष्णने जब अदृष्य किया तो उस शरीर के साथ उसकी आंखें जो चंद्रसूर्य वे भी अदृष्य हो जाना चाहिये थे. परन्तु शरीर अदृष्य होकर ये चंद्रसूर्य (नेत्र) अबतक कैसे बने रहे ? अर्थात् ये सत्य चंद्रसूर्य उस कल्पनामय दृष्य के नेत्र होना सिद्ध नहीं होता किंतु इस आद्यन्तरहित विश्वरूप विराट पुरुष के ही ये नेत्र हैं यही सिद्ध होता है और यही वेद भी कहता है. इसकी सत्यता इस ग्रंथ के पूर्व में दी हुई दिव्यदृष्टी से ही सिद्ध होकर प्रतीति आती है।

'**अमीहि त्वां सुरसंघा इ.**' (श्लोक २१, २२) इन दो श्लोकों में कहा है कि,' हे विश्वरूप ! देवों के समुदाय तेरे में प्रवेश कर रहे हैं, कोई २ तेरी स्तुति करते हैं और गंधर्व यक्षादि विस्मययुक्त हो तेरी ओर देख रहे हैं.' इसमें के प्रवेश करना, स्तुति करना व देखना ये तीनों कर्म देवादिकों को स्थूल विराटरूप (विश्वरूप) दिखे बगैर नहीं हो सकते. परन्तु आगे ४७ वे श्लोक में **श्रीकृष्ण**

(विश्वरूप नहीं) कहते हैं कि मैंने यह विश्वरूप तेरे (अर्जुन) सिवाय और किसी को भी नहीं बतलाया है. पूर्वपक्ष के मन्तव्यानुसार इस महान विसंगति दोष की व्यवस्था नहीं लगती. किंतु 'दिव्यदृष्टी' के सिद्धान्त से कोई विसंगति नहीं दिखती।

'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः इ०' (श्लोक २६, २७, २८ व ३२) ऐतिहासिक सत्यता की दृष्टी से इन चार श्लोकों का विचार किया जाय तो पूर्वपक्ष के विशेष विराटरूप के (स्थूल शरीर धारण या कल्पनामय रूपदर्शन दोनों के) विरुद्ध ही बात सिद्ध होती है. अर्जुन कहते हैं कि, हे जगन्निवास ! धृतराष्ट्र के पुत्र (कौरव), उनकी ओर के **सब** राजा व सेना और उसी तरह हमारे तरफ़ के भी **मुख्य मुख्य योद्धा** वेग से आपके मुख में प्रवेश कर रहे हैं और उनमें से कोई तो तुम्हारी भयंकर डाढों में अटक कर मृत्यु पथ को जारहे हैं और कई तो चूर्ण भी हो चुके हैं. सेना व योद्धाओं के मरने का यह दृष्य अर्जुन को बतलाने का, कोई विद्वान यह कारण बतलाते हैं कि, कौरवों की सेना मरी हुई देख (मया हतांस्त्वं जहि) अर्जुन को धैर्य पैदा होकर वह लडने को प्रवृत्त हो. जब कि पांडवों के जय की इच्छा कृष्ण के मन में थी और शत्रू के संहार का दृष्य देख अर्जुन को कुछ वीरता प्राप्त होगी इस विचार से उपरोक्त दृष्य उसे बतलाया होगा ऐसी यदि कल्पना की जाय तो केवल शत्रुही (कौरव ही) मरे हुवे बतलाना सुयोग्य होता, परन्तु वर्णन में तो पाडवों की सेना के

मुख्यमुख्य योद्धा अर्थात् भीमसेन आदि भी मृत्युग्रस्त बतलाये हैं. इस विपरीत दृष्य से उसे धैर्य कैसे आता? किंतु अधिक ही घबडाता. अपरंच, (पूर्वपक्ष का) विराटरूप अर्जुनको कहता है कि, (श्लोक ३२) 'ऋतेऽपि त्वां), **तेरे** सिवाय बाकी **सबों** का (दोनों दलों का) संहार होने वाला है. कारण मैं यहां लोगों का संहार करने के लिये कालरूप से प्रवृत्त हुवा हूं. इन **सब** योद्धाओं को मैंने पहिले ही मारडाला है (' मयैवैते निहताः ') परन्तु यह विराटरूप की घोषणा भविष्य में सत्य सिद्ध न हुई, यह विरोध है. कारण भीमादि महायोद्धा संग्राम के पश्चात भी जीवित थे ही. (यह ऐतिहासिक सत्य सबको मालूम है.) परन्तु उपरोक्त वर्णन में विरोध वा असत्यता नहीं है यह दिव्यदृष्टीसे ही प्रतीत होता है।

३१ वां श्लोक समाप्त होतेही 'विश्वरूपोवाच' ऐसा आना चाहिये था, परन्तु यहां भी पूर्वप्रथा के अनुसार ' श्री भगवानुवाच, ' ऐसाही लिखा है. जो वि. विराट रूप के लिये नहीं आना चाहिये था. ३५ वें श्लोक में संजय कहता है कि "इस प्रकार (याने ३२ से ३४ श्लोक) **केशवका** भाषण सुन भयसे कांपता हुवा अर्जुन **कृष्ण** को हाथ जोड गद्गद वाणीसे बोला ३०" यहां पर केशव और कृष्ण ये दोनों नाम विराट रूपके बोधक नहीं, किंतु द्विभुजावाले श्रीकृष्णकोही सूचित करते हैं. इसपरसे, श्रीकृष्णजीनें विराट शरीर बढाया था यह बात कदापि सिद्ध नहीं होती।

---

१८. मुख्य २ योद्धाओं में भी मुख्य पांडव थे. अर्जुन व भीमसेन को छोडकर बाकी के मुख्य योद्धा थे ऐसा नहीं कहा जा सकता. महानयोद्धाओं में अर्जुन भीमसेन सभीका समावेश होता है (अ. १ श्लो. ३ से ६)

पूर्व पक्ष के मत का मंडन करनेवाले लोग औरभी एक आक्षेप उठाया करते हैं. उनका यह कथन है कि, 'दिव्यदृष्टी' याने सामान्ये विश्व-रूप देखने की ज्ञानदृष्टी, और 'दिव्यचक्षु' याने काल मर्यादायुक्त असाधारण विश्वरूप देखने की 'नेत्रदृष्टि' (स्थूल चर्मचक्षुकी दृष्टी.) यद्यपि पूर्वपक्षने यह दो भेद किये हैं तथापि गीतामें दिव्यचक्षु यही एक प्रयोग है, दिव्यदृष्टी यह प्रयोग किसी जगह भी नहीं. ये दोनों प्रयोग एकही हेतुके बोधक हैं. कारण, जिस दृष्टी से सत्-स्वरूपका—सत-चित्-आनंद स्वरूपका—अनुभवयुक्त यथार्थ ज्ञान होकर बुद्धि स्थिर होती है वह दिव्यदृष्टी अथवा ज्ञानदृष्टि है यह तो पूर्वपक्षको मान्य है. अब दिव्यदृष्टी का यही फल (परिणाम) 'दिव्यचक्षुसे' भी प्राप्त होता है, यह बात गीता से सिद्ध होती है, इसलिये 'दिव्य-चक्षु' व 'दिव्यदृष्टी' दोनों एक है, यह भूमितिके सिद्धांतसे सिद्ध होता है. ग्यारहवें अध्याय के १६, १८, १९, ३७, ३८, ४८, ५३ व ५४, और बारहवें अध्यायका पहिला, इन श्लोकोंका (भावनाधीन वा मतान्ध न होते हुवे) यदि समतोल बुद्धि से विचार किया जाय तो यही ध्यान में आवेगा कि 'दिव्यदृष्टी' यह रूढशद्व और 'दिव्य-चक्षु' यह गीतोक्त पारिभाषिक शद्ब दोनों भिन्न नहीं किंतु एकही हेतु व अर्थ के दर्शक हैं. परन्तु जिनको मताभिमान व भावनाधीन-ताके कारण (इस) दिव्यदृष्टी का रहस्य ज्ञात नहीं हुवा हो उनको

१९. भगवान मायानंद चैतन्य प्रकाशित दिव्यदृष्टी से दिखने वाले सत्, त्रिकालाबाधित, यथार्थ, अविनाशी विश्वरूप को पूर्वपक्षने 'सामान्य विश्वरूप' यह नाम रखा है.

निज व्यष्टि भावना को सिद्ध करने के लिये अनुभव का राजमार्ग छोड कल्पनामय टेढा रास्ता लेना पडता है, इसमें सिद्धान्त का क्या दोष है ?

'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्' इ० (श्लोक ३७, ३८) जो रूप कालामर्यादायुक्त तथा स्थूल नेत्रोंको दिखने योग्य स्थूल है वह सत् असत् से परे, श्रेष्ठ और अविनाशी कैसे कहा जा सकता है ? इसी-तरह आगे अर्जुन कहता है ' तूही ज्ञेय (वेद्यं—जाननेयोग्य), और ज्ञाताभी तूही है, तूही परंधाम है और (वस्त्रांतर्गत तंतुके समान) तूने ही यह सब विश्व व्यापा है " इसमेंसे एकभी लक्षण स्थूल विशेष विराट देह में घटित नहीं हो सकता. कारण, ज्ञेय (जाननेयोग्य) वही विश्वरूप होना संभाव्य है कि जिसको दिव्यज्ञान से जानकर मनुष्य निर्मोह, निर्भय व कृतकृत्य हो सकता है. यहां **' जानकर '** ऐसा प्रयोग है; न कि चर्मचक्षुसे **'देखकर'** स्थूल नेत्रोंको दिखने वाले स्थूल विशेष विराटरूपको वेत्ता, वेद्य और परमधाम—कैसे कह सकते हैं ? वेद्य नाम ज्ञेय; ज्ञेय सत्‌ही हुवा करता है, असत् नहीं. जितना भी कुछ स्थूल है वह सब असत्—जड है यह वेदान्तीपूर्व-पक्ष का कहना है. अर्थात् उन्हीके मन्तव्यानुसार स्थूल स्वरूप ज्ञेय नहीं हो सकता. ज्ञेय क्या है ? इसका पूर्ण कथन तेरहवें अध्याय में (श्लो. १२ से १७ तक,) किया है. इसमें का प्रत्येक शब्द सामान्य विश्वरूप ' से जैसा मिलता है वैसा विशेष विश्वरूप से नहीं मिलता.

इस वर्णनमें स्थूल वि० विराटरूप से और अनुभव से जो प्रत्येक शब्द में विरोध आता है वह सब विस्तारभय से यहां देना अनुचित समझते हैं. यहां तो मुख्य २ विरोध बतलाते हैं।

अर्जुनने विश्वरूप को परमधाम कहा है; परमधाम का अर्थ गीता की प्रणाली से लिया जाय तो '**यद्गत्वा न निवर्तंते तत्धाम परमं मम**' ('जहां गया नहिं लौटे, वो मेरा श्रेष्ठ धाम है') (अ. १ पृ. ५-६) ऐसा है. यदि स्थूल विराटरूप परमधाम माने तो उसमें किसी व्यक्तिने कैसे प्रवेश करना? अर्जुनने तो प्रवेश किया ही नहीं था. कारण, प्रवेश करता तो वह उसीमें मिल जाता-फिर लौट नहीं सकता अर्थात् विश्वरूप जैसे अदृष्य हुवा वैसे अर्जुन भी अदृष्य हो जाता. कारण, परमधाम में प्रवेश होने के पश्चात् फिर तद्रूप होने की क्रिया हुवा करती है. इससे यह सिद्ध है कि पूर्व पक्षीय विशेष विराटरूप को परमधाम कहना या मानना यत्किंचित भी तर्क-संमत नहीं है. ३८ वे श्लोक में 'त्वया ततं विश्वमनंतरूप' ऐसा कहा है. (तंतूने-सूतने जैसा सर्ववस्त्र व्यापा है उसी प्रकार से) वि० विश्वरूप ने सर्वविश्व व्यापा है ऐसा माने तो वि० विश्वरूप का लय होने पर यह सामान्य विश्व तो अब भी सबको ज्यों का त्यों दिख रहा है. इस लिये पूर्वपक्ष का यह कथन 'तंतू मिटने पर भी वस्त्र दिख सकता है' इस कथनके अनुसार पूर्ण अज्ञानमय कहा जायगा.

'**सखेति मत्वा**' इ० (श्लो. ४१-४२) इन श्लोकों से यह बात भलीभांति स्पष्ट होती है कि, कृष्णजी ने न तो देह को

बढाकर विराट किया और न काल्पनिक दृष्य भी अर्जुन को बतलाया था कारण, यदि विराटरूप बढाया ऐसा मान भी लें तो केवल युद्धके सयम ही अर्जुन के सामने हुवा था न कि युद्ध के कई वर्ष पहिले; और न उसने बोलचाल में विराट देह का कोई अपराध किया था. परन्तु, उसने विराटरूप से इन श्लोकों में कहा कि, "हे प्रभु! यह तुम्हारी महिमा मैंने न जानते हुवे (**पहिले**) शयन, भोजनादि व्यवहार में अथवा प्रेमीमित्रों के सन्मुखता में **तुमको** 'ऐ कृष्ण, अरे प्यारे, हे यादव' इत्यादि शब्द प्रेमसे अथवा प्रमाद (अहंकार से, कहे हों वह मेरा सब अपराध आप क्षमा कीजिये." इससे यह ज्ञात हो सकता है कि उपरोक्त भाषण करते समय अर्जुन के सामने वही **पहिला** (द्विभुजा वाला) श्रीकृष्ण का स्वरूप था जिसका उसने अपराध या हँसी वगैरा की थी, उन्ही श्रीकृष्णजी से वह क्षमा मांगता है. इसका यथार्थ कारण यह है कि, दिव्यचक्षु (दिव्यदृष्टी) प्राप्त होने से सत्‌स्वरूप का लक्ष होतेही श्रीकृष्णजी के संबंध में उसकी कृष्ण 'बराबरी का मित्र है' यह भावना थी वह बदलकर— 'तत्पदं दर्शितं येन तस्मै सत्‌गुरवे नमः'—इस न्याय से उसने उनको दिव्यदृष्टीदाता **सद्गुरु** जानकर पूर्वकृत अमर्यादा व

---

२०. ऐसे अनेक उदाहरण भगवान् श्रीमायानंद चैतन्यजी के संबंधमें हुवे हैं हालमें ताः २१-११ सन १९३२ को ही हुवा है. × × × को बोध होते ही उन्होंने पूर्वकृत कटु शब्दों की भगवान से क्षमा मांगी. 'गए शरण प्रभु राखि हैं तब अपराध बिसार' इस प्रकार श्रीमायानंद चैतन्य भगवान् होने से उनकी यह खास विशेषता है.

अपराध की क्षमा मांगी है. इसके अतिरिक्त इस विचार प्रणाली की सत्यता को आगे के 'गुरुर्गरीयान्' इस श्लोक का अच्छा ही सबूत है।

अब तक के सब विवेचन से पाठकों के ध्यान में यह बात भलीभांति आयी होगी कि, विश्वरूप-दर्शन की घटना ग्यारहवें अध्याय के ४४ श्लोकों में से किसी एकभी श्लोक से **"चमत्कार"** स्वरूप की सिद्ध नहीं होती. कुछ चमत्कार किया होगा इस पूर्वपक्ष के अनुमान की सब इमारत केवल ४६ वें श्लोकपर रची हुई है. अब इसका विचार करने के पहिले ४५ वे श्लोक का विचार करें।

'**अदृष्टपूर्वम्**' इ० (श्लो. ४५) जिस समय अति महत्व का कोई अज्ञात सिद्धांत मालूम होने की तीव्र इच्छा मनुष्य के मन में उत्पन्न होती है उस समय की उसके मनकी स्थिति कैसी रहती है और वही गूढ सिद्धान्त अविष्कृत होने पर उसके वृत्तीमें कैसे फरक होते जाते हैं यह बात सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात हो सकती है. अत्यंत गूढ, अखंण्ड, अव्यय परमात्मस्वरूप का प्रत्यक्ष विज्ञान (अपरोक्षानुभव) प्राप्त होवे यह अर्जुन की तीव्र जिज्ञासा थी (गी. ११-४) परमात्म विषय में साधारण जनता के समान ही अर्जुन की भी जो भ्रमपूर्ण भावनाएं थीं वे सारीं 'दिव्यदृष्टी' से दिखने-वाले विश्वरूप को देखकर तत्काल बदल गईं. अपनी दृष्टीमें ऐसा भारी परिवर्नन देख अर्जुन को अत्यंत आश्चर्य हुवा और वह फिर विचार में उलझ गया. निश्चय, आश्चर्य, आनंद, भय तटस्थावस्था आदि उत्पन्न होना यह सत्व-रज-तमोगुणात्मक वृत्तियों पर अवलं-

चित हैं. यह अपने नित्यके अनुभव की बात है कि एकही दृष्य देख-कर भिन्न २ गुणों के लोगों की भिन्न २ वृत्तियां बनजाती हैं; कारण अपने २ गुणानुसार एकही दृष्य की ओर लोग देखते हैं. सीता स्वयंवर के समय श्रीरामचंद्रजी अनेक व्यक्तियों को भिन्न २ प्रकार के भासे ऐसा जो रामायण में वर्णन है वह इसी मानस शास्त्र के नियमा-नुसार है. इसी न्याय से अर्जुन रजोगुण प्रधान वृत्तीका (क्षत्रिय वर्ण का) होने के कारण 'दिव्यदृष्टी' प्राप्त होने से 'सामान्य विश्वरूप' का ही **यथार्थ स्वरूप** ध्यान में आते ही उसको प्रथम आनंद हुवा और पश्चात् (उसके मन में पूर्व भावना तथा नये अनुभव की तुलना होने लगी तब) 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' इस प्रकार उसकी अवस्था हुई. तिस पर भी वह युद्ध प्रसंग होनेसे और उसी समय 'कालोस्मि लोकक्षयकृत प्रवृद्धो' यह श्रीकृष्ण का वाक्य भी उसके कानों में गूंज रहा था; जिससे विश्वके नामरूप विकारों की अशाश्वतता देख उसको भय (डर) लगने लगा. भय का अर्थ यह नहीं कि अर्जुन अपने देह के मोह से 'मेरी आगे क्या दशा होगी' इस विचार से डरा हो; किंतु, 'दिव्यचक्षु' का श्रवण होते ही प्रथमतः[२१] (अनुभव की युक्ति प्रत्यक्ष सन्मुख रहने से) क्षर प्रकृति का बोध और तदनंतर अक्षर-स्वरूप का लक्ष्य हुवा करता है. इसके पश्चात् क्षराक्षरातीत विश्वरूप परमात्मा का लक्ष्य करते समय

---

२१. वर्तमान समय में भी ऐसी अनेक घटनाएं प्रस्तुत लेखक ने तथा अन्य जनोंने भी भगवान् श्री मायानंद चैतन्य के दिव्यचक्षु के उपदेश से होती हुई अनेक बार देखी है.

श्रोताओं को समाधान व आनंद उत्पन्न होता है. परन्तु यह अपरोक्षानुभवजन्य आनंद सत्वगुणप्रधान व्यक्ती का स्थिर हो जाता है; रजोगुण प्रधान व्यक्ती का मन (क्षर का पूर्वाध्यास प्रबल होने के कारण) बुद्धिका सहारा छोड देने से फिर फिरसे क्षर की ओर ही झुकता है. ऐसे व्यक्ति को वही रूप फिरसे प्रत्यक्ष सिद्ध करके समझाने से (अर्थात् मुमुक्षु का मनन होने से) उसका बोध पहिले की अपेक्षा अधिक निश्चित होता है, और कई मन:कल्पित भयजनक भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं.

ऊपर कथन किये अनुसार (पुरुषोत्तम भाव में पूर्ण स्थिति न होने के कारण) अर्जुन क्षर स्वरूप के नामरूपका अशाश्वत भाव ही देख चक्कर में पड गया और चित्तको स्थिरता प्राप्त होने के लिये वह 'हे विश्वमूर्ते! वही रूप तुम धारण करो, इस प्रकार कृष्ण की प्रार्थना करने लगा.

'**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन** इ० ' संपूर्ण ११ वें अध्याय में से विशेषतः इस ४६ वे श्लोक से ही चमत्कार की कल्पना (कृष्णजी ने अपना देह बढाया और अर्जुन डरने पर उसकी प्रार्थना से फिर चतुर्भुज या द्विभुजावान् बनगए यह कल्पना) उत्पन्न हुवा करती है. यहां ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है कि, विश्वरूप बतलाने के पहिले श्री कृष्ण को वस्तुतः चार हाथ थे अथवा सर्व

---

२२ कुछ लोगों को 'दिव्यचक्षु' का उपदेश (अनुभव) जचते हुवे भी उसपर निश्चय नहीं होने पाता इसका यही उपरोक्त कारण है.

साधारण मनुष्योंकेसे दो ही हाथ थे ? यह प्रश्न सूक्ष्म चिकित्सा-युक्त विवेचन योग्य होने से इस विषय में 'श्रीकृष्ण का यथार्थ स्वरूप'[२३] इस नाम से एक स्वतंत्र छोटीसी किताब प्रसिद्ध की गई है, जिसमें तुलनात्मक दृष्टी से महाभारत के अनेकानेक आधार देकर विचार किया गया है. स्थल संकोच के कारण यहां उसके आधार नहीं दिये हैं. उपरोक्त पुस्तक में (पृ. २२ से ४५ तक) इसका समतोल दृष्टी से विचार किया गया है, और सिद्ध किया है कि,—(१)श्रीकृष्ण को जन्म से ही सब मनुष्यों के समान **दो ही हाथ** थे, और (२) अर्जुनने चतुर्भुज विष्णुरूप दिखाने की प्रार्थना करने पर भी वे चतुर्भुज नहीं बने थे किंतु विश्वरूपान्तर्गत सामान्य मनुष्यों के समान अपना दो भुजावाला मनुष्य स्वरूप ही उसको अधिष्ठान बतलाया; भिन्न २ रूप धारण करने का कोई चमत्कार उस समय कृष्णजी ने नहीं बतलाया था. ४६ वे श्लोक में अर्जुन 'हे विश्वमूर्ते !' ऐसा संबोधन करता है तोभी उत्तरदाता के लिये 'श्रीभगवानुवाच' यही पूर्व मनुष्य देहधारी कृष्ण का बोध कराने वाला ही प्रयोग आया है. सारे अध्याय में कमसे कम एक तो 'विश्वरूपोवाच' अथवा 'विश्वमूर्तिरुवाच' ऐसा प्रयोग विराटपुरुष के लिये आना चाहिये था. परन्तु किसी भी स्थान में ऐसा नहीं पाया जाता. इससे यही स्पष्ट तथा सिद्ध होता है कि द्विबाहू श्रीकृष्ण ही (कृष्णार्जुन संवाद के शुरू से अंत तक) अर्जुन के सामने जैसे के तैसे ही थे, कोई फरक न

---

२३. यह पुस्तक भी पाठकों ने देखने योग्य है.

हुवा था. यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि अर्जुन ने 'हे विश्वमूर्ते!' ऐसा क्यों कहा? तो उसका उत्तर यह है कि, कृष्णजी विष्णुरूप विभूति के अवतार माने जाते थे, और विष्णु के (गुणात्मक) कई नाम हैं. इसलिये उनमें से बहुत नामों का कृष्ण के लिये भी उपयोग करने की (व्यासजी की) प्रथा थी. (विश्वमूर्तिः, महामूर्ति इ० विष्णु के नाम विष्णुसहस्त्रनाम में प्रसिद्ध ही हैं.) 'विश्वमूर्ते!' ऐसा कृष्ण को कहा गया तो भी उससे यह भाव किसी प्रकार भी नहीं निकलता कि कृष्णने अपना देह बढाया था.

'**मया प्रसन्नेन** इ०' (श्लो. ४७) पूर्वपक्ष के मतानुसार यदि विशेष विराटरूप थोडी देर मान भी लिया जाय तो भी वह (बढाया हुवा रूप) ४९ वे श्लोक तक वैसा ही (बढा हुवा) कायम था और पश्चात् चतुर्भुज व द्विभुजरूप धारण किया यह उस श्लोक से स्पष्ट होता है; अर्थात् ४७ वे श्लोक में '**मया** प्रसन्नेन' याने '**मैंने-विश्वरूपने** प्रसन्न होकर विश्वरूप बतलाया' ऐसा यह प्रयोग होता है जो भूत भविष्य कर्म के दृष्टी से सर्वथा गलत ठहरता है. कारण यह कि अर्जुन की प्रार्थना से **प्रथमतःकृष्णजी** प्रसन्न हुवे फिर उन्हों ने वि० विश्वरूप बतलाया. कृष्णजी प्रसन्न होने के **पहिले** 'वि० विराटरूप' अस्तित्व में नहीं था. द्विभुजावाले कृष्ण ने प्रसन्न **हुवे पश्चात्** उन्होंने वि. विराट रूप बताया. और प्रयोग में जब कि '**मया** प्रसन्नेन' (**मैंने** प्रसन्न होकर) अर्थात् कृष्ण ने प्रसन्न होकर यही संबंध व अर्थ लगता है; तो इससे यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि

विश्वरूप बतलाने के पहिले तो कृष्ण कृष्णरूपमें थे ही किंतु ४९ वे श्लोक संवाद के समय भी वेही पूर्व में प्रसन्न होने वाले दो हाथ वाले कृष्णजी उसी रूपमें अर्जुन के सामने थे; और इसी लिये द्विभुज कृष्णने ' मया ' शब्द से ' दिव्य[24]चक्षु ' देने का पूर्वका निज संबंध दिखलाया है.

इसी श्लोक के चौथे चरण के विषय में एक और मुद्दा विचार करने योग्य है. कृष्ण कहते हैं—' तेरे सिवाय यह मेरा रूप पहिले किसी ने नहीं देखा (यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्) ' इस संबंध में लोक और भाष्यकार ऐसा अर्थ करते हैं कि अर्जुन के सिवाय किसी को भी विश्वरूप नहीं बतयाला था, परंतु यह कल्पना मित्थ्या है. कारण उसके भी पहिले कौरव सभा[25]में शिष्टाई (समझौता) करने गये थे उस समय कृष्णने वही विश्वरूप बतलाया था ऐसा भारत में उल्लेख है इस ऐतिहासिक दृष्टीसे उपरोक्त अर्थ करने वाले टीकाकारों का अर्थ (अनुभव हीन होने के कारण) सर्वथा अयुक्त तथा अग्राह्य है भगवान् श्रीमायानंद चैतन्यजी ने किये हुवे अनुभव[26]पूर्ण अर्थ में यह विसंगतिदोष नहीं पाया जाता.

---

२४. अर्जुनकी ' दर्शयात्मानमव्ययम् ' इस प्रार्थना पर प्रसन्न होकर ही ' दिव्यंददामि तेचक्षुः ' यह कृष्णजी ने ही कहा था; पश्चात् विश्वरूप दर्शन हुवा यह संबंध है. २५. उद्योग पर्व देखें. २६. 'दिव्यदृष्टि' प्रकरण में इसका सत्य अर्थ संक्षेप में दिया है. स्पष्टीकरण यह कि, त्रिकालाबाधित विश्वरूप जैसा श्लोक १५, १६, १८, २० में वर्णित है) सबको सर्वत्र सर्वदा दिव्यदृष्टी से दिखता है यह पुरुषोत्तम भाव का वर्णन है. इस पुरुषोत्तम रूपी विश्वपर जो

'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः इ०' (श्लोक ४८) भगवान् कृष्ण कहते हैं कि 'हे अर्जुन! वेद पठण करने से, यज्ञ, अध्ययन, दान, (अग्निसाधनादि) तप, अथवा (प्राणायाम-त्राटक-जप जाप्य मंत्रादि) क्रिया करने से भी इस प्रकार का विश्वरूप तेरे सिवाय इस मनुष्य लोक में और को दिखना अशक्य है' इस श्लोक का अर्थ दिव्यदृष्टी रहित केवल विद्वत्ताके बल से किये हुए भाषांतर और भाष्यों को देखने से मालूम होगा कि कितने विसंगति दोष उत्पन्न होते हैं. प्राणायाम क्रियामें प्राणवायु का अवरोध करने से

निजगुण के अनुसार परिवर्तनशील कालमर्यादित दृष्य व घटनाएं देख अर्जुन ने विश्वरूप जानकर ही व्यष्टिभावनासे उस समय के युद्ध प्रसंग का वर्णन किया है उसे ध्यान में लेकर श्रीकृष्ण ने उपरोक्त श्लोक कहा कि यह आज जो विश्वरूप तूने देखा यही दृष्य तेरे बिना न तो पहिले किसी ने देखा और आगे भी (विश्वरूप तो दिव्यदृष्टी से दिखेगा परंतु आज के युद्ध प्रसंग का कौरव पांडवोंका दृष्य) किसी को भी दिखना शक्य नहीं. आदि अंत रहित यह विश्व राम, कृष्ण ने जैसा देखा व औरों को बताया वही जर्मन युद्ध के समय भी था, आज भी है और अविनाशी होने के कारण ऐसाही सदैव बना रहेगा. तथापि जर्मन युद्ध के समय का वह भीषण दृष्य जिन्होंने देखा उनके सिवाय औरों को कदापि नहीं दिखने का. इतनाही नहीं किंतु युद्ध भूमि पर ही जो दृष्य एकने देखा हो वही दूसरे दिन दूसरे को नहीं दिख सकता. कारण क्षरभाव अखंड परिवर्तन शील है. हेतु यह कि दिव्यदृष्टी से विश्वरूप एकही दिखा करता है, दृष्य भिन्न २ हुवा करते है. इस श्लोक में विश्वके तात्विकरूप का वर्णन नहीं. विश्वके दृष्य स्वरूप के विषय में कहा गया है; (जिससे अर्जुन को गत दृष्य देखने का फिरसे मोह उत्पन्न न हो.) २७. यहां 'वेद' शब्द लोकरूढि के अनुसार याने 'श्रुति' दृष्टी से उपयोग किया है.

समाधि लगती है ऐसा पातंजल योग का अर्थ किया जाने से पातंजलयोग क्रियायोग ही माना गया है इसी भावनानुसार ज्ञानेश्वरने भी गीता के ६ वें अध्याय की टीका करने में अपना उस समय का मन्तव्य आविष्कृत किया है. परन्तु ४८ व ५३ वें श्लोक में श्रीकृष्णने विशेष ही जोर देकर (क्यों के द्विरुक्ति है इसलिये) उसका निषेधही किया है. गीतारहस्यकर्तानि उसीको कर्म योग ठहराने की चेष्टा की है परंतु ६ वे अध्याय के अंतमें 'अध्यात्मयोगोनाम' ऐसा स्पष्ट लिखा हुवा होते भी उसकी ओर मताग्रह से दुर्लक्ष्य किया हुवा मालूम होता है. सारांश, उपरोक्त किसी भी क्रिया से 'विश्वरूप-दर्शन' होना संभव नहीं, केवल अनन्यभक्ति से ही हो सकता है यह निःसंदेह सिद्ध होता है।

'नृलोके ३०' इस श्लोक का बहुतेरे भाषाभिज्ञोंने ऐसा ही अर्थ किया है कि अर्जुन के सिवाय मनुष्यलोक में विश्वरूप औरों को दिखना संभव नहीं; इससे उनका यह हेतु ध्वनित होता है कि मनुष्यलोक में किसी को अनन्यभक्ति प्राप्त होने पर भी प्रस्तुतसमय और भविष्य में भी विश्वरूप दिखना असंभव है. ऐसा अर्थ ग्राह्यमाना जाय तो आगे का ५४ वां श्लोक मित्थ्या ठहरता है, और यदि अनन्यभक्ति से दिखना संभाव्य कोटिमें मानें तो, प्रस्तुत

२८. विशेष विवेचनार्थ 'गीतोपनिषद' में ६ वे अध्याय में का नोट देखना. २९ अनन्यभक्ति दिव्यचक्षु से होती है यह गीता से सिद्ध होता है अतः दिव्यचक्षु (दिव्यदृष्टी) यही 'विश्वरूप दर्शन' की एकमात्र युक्ति है यह आपहीं सिद्ध है.

श्लोक में (कि अर्जुन के अतिरिक्त मनुष्यों में और किसी को भी) स्वारस्य नहीं रहता. सिद्धांत में यह विसंगति दोष जैसा अन्यटीकाओं में पाया जाता है वह श्रीमायानंद चैतन्य के अर्थ में नहीं है. उनका अर्थ पूर्वापर संबंधयुक्त समष्टि नियम व अनुभव से मिलता है इससे वह बुद्धिग्राह्य है यह सूक्ष्म विचार से पाठकों के ध्यान में आवेगा।

'पुनःत्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।' (श्लोक ४९ इस चौथे चरण का अर्थ 'फिर तू मेरा वही पहिले का रूप देख' ऐसा अनेक टीकाकारो ने किया है और उसके विवरण में 'पहिले का अर्थात् विश्वरूप बतलाने के पूर्वका कृष्ण का असली चतुर्भुजी रूप' ऐसा स्पष्ट लिखा है. परन्तु ऐसा मनमाना अर्थ इस श्लोक में से किसी प्रकार भी नहीं निकलता. यहां 'रूपं **इदं**' शब्दों का अर्थ 'यह (पहिले का) रूप' ग्राह्य तबही माना जाता यदि वि० विराट रूपने अपना बढा हुवा देह ४९ वे श्लोक के पहिले ही बदल दिया होता और ४९ वा श्लोक चतुर्भुजी कृष्णने कहा होता कि 'यह वही पहिले का रूप देख;' इदं (यह) शब्द तो तभी लग सकता था. परन्तु ४९ वां पूर्ण श्लोक तो (पूर्वपक्ष के मत से) वि० विराट रूप का ही है. सारांश यह कि, इदं शब्द चतुर्भुजी रूप का बोधक नहीं 'यह **मेरा** वही रूप तू फिर देख' इसमें 'मेरा यह रूप' (अर्थात् प्रस्तुत समय में जो यह मुझे पुरुषोत्तम का स्वरूप सर्वत्र दिख रहा है वही) इन शब्दों का संबंध, (विश्वरूप का भाषण समाप्त नहीं हुवा इस लिये), विश्वरूप से ही लगता है. यह ४९ वां

श्लोक पूर्ण होने तक चतुर्भुज रूप धारण ही नहीं किया था यह ५० वें श्लोक से भी और अधिक स्पष्ट होता है. एवं 'मेरा पहिले का चतुर्भुज रूप देख' ऐसा अर्थ किसी प्रकार भी निष्पन्न नहीं होता इस श्लोक का पूर्वापर अर्थ संबंध देखने से कृष्ण के संबंध में लोक-रूढि में चतुर्भुजा की केवल भावना होने से वैसा ही अर्थ टीकाकार भी भावनावश हो करते आए हैं वह अयुक्त है।

'इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपम्' (श्लोक ५०) संजय धृतराष्ट्र से बोला कि, 'इस प्रकार कहकर महात्मा वासुदेव ने फिर सौम्य वपु हो उस घबडाये हुवे अर्जुन को अपना रूप (निज वासुदेव-रूप) बताया.' इस श्लोक में 'वासुदेव' और 'स्वकंरूपं' ये शब्द बडी मार्मिकता से व्यासजी ने रखे हैं. वासुदेव कौन? वसुदेव का पुत्र अर्थात् द्विभुजा वाले कृष्ण यह तो स्पष्ट ही है. यहां इससे भी और व्यापक दृष्टी ली गई है, जो 'वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा' (गी. ७ १९) यह है. वासुदेव के बजाय 'इत्यर्जुनं श्रीकृष्णस्तथोक्त्वा' या अन्य पाठ सरलता से श्रीकृष्ण बोधक हो सकता था. परन्तु ऐसा नहीं किया. 'यह सर्व विश्व वासुदेव स्वरूप ही है ऐसा जो (अनुभवजन्य निश्चय से) जानता है वही महात्मा है (और को महात्मा नहीं कहा जासकता) ऐसा सात वें अध्याय में व्यासजी कह चुके हैं, और कृष्ण उसी सातवीं भूमिका में स्थित थे यह व्यासजी जानते थे इस लिये 'सर्व वासुदेव मय जानने वाले, वसुदेव के पुत्र **महात्मा वासुदेव** (कृष्ण) ने अपना (सर्व वासुदेव मय है यह)

निजरूप अर्जुन को फिर से बताया. यहां पूर्वपक्ष की ओर से ऐसा एक आक्षेप उठनेका संभव है कि, "उत्तर पक्ष की (यथार्थ) दृष्टी से ११ वे अध्याय के १५ से ४४ तक जो यथार्थ विश्वरूप अर्जुन ने दिव्यदृष्टी से देखा वही रूप फिरसे बतलाने की कृष्ण को क्या अवश्यकता थी?" इसका समाधान यह है कि, प्रश्न करने वाले अर्जुन ने ग्रंथोंमें पढाहुवा तथा सुनाहुवा, तमोगुणी भावना निर्मित विष्णू का चतुर्भुज स्वरूप धारण करने को कृष्णजी से कहा था; परन्तु उस समय की अर्जुन की वह तमोगुणी इच्छा जान कृष्ण ने मन में विचार किया कि, "पिण्ड व ब्रह्माण्ड तत्वतः एक रूपही है—समष्टी से व्यष्टि (व्यक्ति) भिन्न नहीं—इस सिद्धांतको 'दिव्यदृष्टी' द्वारा सप्रयोग सिद्ध करके इसको (अर्जुन को) बतलाया तो भी इसका तमोगुणकल्पित चतुर्भुज व्यष्टिरूप देखने की इच्छा बाकी है इससे यह मालुम होता है कि मैंने सिद्ध किये हुवे सिद्धन्त का इसे अभी पूर्ण निश्चय नहीं हुवा," (क्यों के रजोगुणी को एकही समय में वस्तु निश्चय नहीं होने पाता यह नित्य का अनुभव है) और इस लिये श्रीकृष्णने शान्त होकर (भूत्वा सौम्यवपु) (स्वकंरूपं दर्शयामास आश्वासयामास च) वही अपना (क्षराक्षरातीत परुषोत्तम का) रूप शांतता से समझाकर बताया तथा विष्णु में (विश्वरूप विष्णु में) जो तत्वतः[20] (चातुवर्ण्यरूप चार भुजाएं[21]) हैं वही मुझ में भी तत्वतः

---

२०. यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् इ. २१. 'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत् बाहू राजन्य इ०' चार भुजाएँ तत्वतः व्यष्टि व समष्टि दोनों में हैं, स्थूल चार हाथ नहीं यह हेतु है.

देख यह कहा और आश्वासन दिया कि, इसी सिद्धान्त के यथार्थ बुद्धिजन्य निश्चय से ही तुम्हारा कल्याण है. (दूसरी बार सौम्यवृत्ती से समझाकर बतलाने पर अर्जुन की वह तमोगुणी रूप देखनी की इच्छा व शंका नष्ट होगई. अनुभव दृष्टी से तुलना की जाय तो श्री मायानंद चैतन्य का अर्थ रोचक भावना रहित यथार्थ अतएव सब से बुद्धिग्राह्य सिद्ध होता है.

'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्' इ० (श्लो. ५१) पिछले ४६ वें श्लोक में अर्जुन ने चतुर्भुजरूप देखने की इच्छा प्रगट करने पर भी वह इस श्लोक में सौम्य मनुष्य रूप देखा यह कबूल करते हैं. मनुष्य जाति में तो 'चतुर्भुज' रूपही नहीं. इससे यह गर्भित भाव प्रगट होता है कि, लोगों में प्रचलित कल्पना के अनुसार चतुर्भुजरूप देखने की यद्यपि अर्जुन को इच्छा हुई थी तथापि कृष्णजी ने उस कल्पना की असत्यता यथार्थ अनुभवजन्य बोध (जो विष्णु में है वह संपूर्ण क्षराक्षरसंयुक्त स्वरूप मुझ में देख ऐसा प्रत्यक्ष बोध) देने के कारण अर्जुन की श्रीकृष्ण सद्गुरुपद में निष्ठादृढ होते ही समाधान हुवा. यहां तक विश्वरूप के विषय में साधक बाधक तथा युक्तायुक्त विचार प्रणाली का निःपक्षपात बुद्धि से विचार किया है यह बात हमारे पाठक स्वयं जान सकेंगे.

उपरोक्त विवेचन से यह बात सिद्ध होती है कि, 'दिव्यदृष्टि' (दिव्यचक्षु) यह कोई मेस्मेरिझम के से भावनाजन्य कल्पना के दृष्य भासमान करानेवाली दृष्टि नहीं है. कारण, मान लीजिये कि

एक व्यक्तिने किसी दूसरे पर मेस्मेरिझम अथवा पातंजल योग वा अन्यशक्ति[३२] के प्रयोग करके उसे चमत्कृतिपूर्ण रूप बतलाया तो भी उस रूप में सबों को सदैव अनुभव में आनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंधरूप **द्रव्यशक्ति**, त्रिगुणरूप **क्रियाशक्ति** और स्थिर प्रियत्वरूप चैतन्य यह **इच्छाशक्ति** इन तीनों का एकरूप (सामवायिक) अस्तित्व किसी से सिद्ध नहीं किया जासकता, इसलिये वह केवल कल्पनामय है उस कल्पनामय रूप में **अनादि**, अमध्य, **अनंत**, कृत्स्नम् (संपूर्ण-सर्व), और सत् असत् से अतीत पुरुषोत्तमपद (गी. १५. १६-१७) ये सब विशेषण घटित (सिद्ध) नहीं होसकते. मेस्मेरिझम आदि द्वारा ऐसा रूप बतलाने वाला, देखने वाला तथा और प्रेक्षकों में से कोई भी, दुर्बल मनकी भावना से दिखनेवाले उस कल्पनामय रूप में उपरोक्त विशेषण सिद्ध नहीं कर सकते. इसलिये उस रूप को तत्वतः 'विश्वरूप' नहीं कह सकते. तत्वतः व न्यायतः सिद्ध होनेवाले **विश्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन** होने के लिये—

विश्वरूप दर्शन योग का उपसंहार करते हुवे, निम्नोक्त दोनों

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप! ॥' ५४

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्व भूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५

---

३२. इस विषय के प्रयोग (चमत्कार निर्णय पृ. ३००) में देखें.

श्लोक श्रीकृष्णजीने इस हेतु से कहे हुवे हैं कि उक्त घटना को कोई अल्प बुद्धि से केवल भासात्मक दृष्यदर्शनरूप अथवा शरीरवर्धनरूप चमत्कार न मान ले. ५४ वे श्लोक में 'विश्वरूप दर्शन होना अर्थात् विश्वरूप का परोक्ष **ज्ञान** (ज्ञातुं) होना, उसे **देखना** (द्रष्टुं) अर्थात् उसका प्रत्यक्ष तत्त्वतः (अपरोक्ष) अनुभव आना, और उसमें **प्रवेश** (प्रवेष्टुं) अर्थात् अपरोक्षानुभवजन्य निश्चय से विश्वरूप से **तद्रूपता प्राप्त करलेने के लिये (मेरी विश्वरूप की) अनन्य भक्ति यही एक मात्र साधन है.** ऐसा कहकर ५५ वें श्लोक मे उसकी फलश्रुति वर्णन की है. इस फलश्रुति का मर्म बतलाने के पहिले और एक बात का स्पष्टीकरण करना अवश्य है. गीता में जिन २ स्थानों में कृष्णजीनें 'अहम, मम, मन्, माम्, मत्तः, मे, मयि, मद्भावः' आदि शब्दों का कई स्थानों में उपयोग किया है उनमें से बहुतही थोडे प्रसंगों में (जहां क्षर का वर्णन है उस जगह) उनका अर्थ श्रीकृष्ण व्यक्ति बोधक है, कोई २ प्रसंग पर (जहां ईश्वर-अक्षर-आत्मा का वर्णन है उस स्थान में अक्षर वाचक है और बाकी सर्वत्र श्रीकृष्णजीनें स्वयं पुरुषोत्तम भाव में स्थिति रहने के कारण परमात्म स्वरूप की दृष्टी से उपयोग किया हुवा है, यह ध्यान में रखना अति अवश्य है. उपरोक्त 'अहं, माम्' इ० शब्द कृष्ण व्यक्ति को लगाने से क्या कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं वह पहिले (पृ. १६६-१६७) आचुका है. सारांश, गीता प्रतिपादित उपरोक्त परिभाषानुसार ग्यारहवें अध्याय में के विश्वरूप दर्शन का उपक्रम तथा उपसंहार करते समय भी श्रीकृष्णजी ने उन्हीं

शब्दों का उपयोग किया है यह ध्यान में रख ५५ वें श्लोक का पक्षपात रहित सत्य सार इस प्रकार होता है—

"हे अर्जुन! ('दिव्यचक्षुद्वारा' हालही में बतलाया—अपरोक्ष कराया-हुवा यह संपूर्ण विश्वरूप यही मैं हूं; मुझ विश्वरूप सेव्य दैवत को जानकर) **मेरे प्रीत्यर्थ** जो (निज वर्ण के)[33] **कर्म करता है, मुझ** (विश्वरूपी विराट पुरुष) **में** जिसकी **बुद्धि लीन हुई है, मेरी** (विश्वरूपी पुरुषोत्तम की) **भक्ति (सेवा)** करता है, और (विश्वसेवा रूपिणी) सत्य भक्ति पूर्ण साध्य होने के लिये जो (सबों में रहकर भी) सर्व (वासना) संग परित्याग करके (अपरोक्षानुभवजन्य आत्मनिश्चय से) सर्व चराचर भूतमात्र में (सम दृष्टी से) निर्वैर यथार्थ आचरण रखता है, वह पुरुषोत्तमपद को प्राप्त होता है." इस श्लोक में **ज्ञान** यही कर्म है, **उपासना** (विश्व-सेवा-भक्ति) यही ज्ञान है और **कर्म** (वर्ण कर्म) यही उपासना (भक्ति) है, यह अंतिम सिद्धान्त अपनी श्रेष्ठतम भूमिका की दृष्टी से कथन कर रक्खा है. सार यह है कि, सच्चा सच्चा कर्मयोगी, अथवा सच्चा भक्त (विश्व का सच्चा स्थायी कल्याण जिसमें हो ऐसी जन सेवा करनेवाला) अथवा ज्ञानी (शब्द ज्ञानी नहीं) होने के लिये सब से पहिले **विश्वरूप परमात्मा से** अपनी अनन्यता होना अवश्य है यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है. अब यह अनन्यता किस प्रकार प्राप्त होसकती है यह प्रश्न उत्पन्न होता है. मैंसमे-

---

३३. गीतोपनिषद नक्षा नं. ३-४ देखना.

रिझम से अथवा पातंजलादि किसी भी क्रिया-योग से केवल भावना में दिखनेवाला (सत् नहीं) देह वर्धनरूप काल्पनिक विश्वरूप देख अनन्यता प्राप्त नहीं होसकती यह बात ऊपर सुस्पष्ट रीति से सिद्ध होचुकी है. कारण, ये दोनों प्रकार के दृष्य नाशमान हैं और उनसे जिसकी अनन्यता हुई मानीजाय उसका भी उसके साथ लय होना चाहिये. परंतु अनुभव उलटा है, इसलिये पूर्व पक्षनें[३४] प्रतिपादन की

---

३४. 'दिव्यदृष्टि' ग्रन्थके मराठी संस्करणमें की 'विश्वरूप दर्शन मीमांसा' पढकर गुरसरांय के श्री. कृष्णराव साहेब खेरनें 'विश्वरूप दर्शन' नाम का एक छोटासा लेख पुस्तकरूप में प्रसिद्ध करके उपरोक्त सिद्धांतको खण्डन करने का प्रयत्न किया है, इसका हिंदी अनुवाद काशी के श्री. अम्बिकादत्त उपाध्याय एम. ए. नें संपादकीय टिप्पणियों सहित सन १९३१ में प्रकाशित किया है. उसका यहां अल्प में खुलासा करना अवश्य है.

उक्त लेख में आदि से अंत तक ऐसा एक भी मुद्दा लेखक तथा संपादक दोनों महाशय नहीं बतला सके कि जिससे 'दिव्यदृष्टि' में दिये हुवे सिद्धांत में किंचिन्मात्र भी बाधा आवे. प्रथम तो यह कहना अवश्य है कि श्री मायानंद चैतन्य जो 'दिव्यदृष्टि' प्रदान करते हैं उससे कौनसा और कैसा विश्वरूप दिखता है इसकाही इन दोनों लेखकों को पता नहीं; न उनसे इन्होंनें दिव्यदृष्टी समझली है. 'दिव्यदृष्टी' के से गहन विषय पर अनाधिकारीनें लिखना अनुचित साहस करना है. पूर्वपक्ष नें 'दिव्यदृष्टि' 'ज्ञानदृष्टि' का भेद न जानते हुवे ही दिव्दृष्टी को ज्ञानदृष्टि नाम देदिया है. ज्ञानदृष्टि वह है जो केवल शद्बादि प्रमाणोंद्वारा व्यष्टि कल्पना की इमारत रचा करते है. उनके पास प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं. किंतु 'दिव्यदृष्टी में सब कुछ दिव्यरूप से सिद्धि किया जाता है; प्रत्यक्ष व अनुमान की योग्यता समान नहीं होसकती. उक्त लेख के ५ वे पृष्ठ में लिखा है कि,

'(बाह्यरूप में परिवर्तन होना) अद्‌भुत चमत्कार से गीता के ध्येय और प्रतिपाद्य विषय में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती इ० ' इस एकही वाक्य से उक्त लेखक व संपादक महाशयकी भूमिका का पूरा पूरा पता चलता है. इनको असंभव चमत्कार का होना सत्य भासता है, परंतु गीता को असंभव चमत्कार मान्यही नहीं. चमत्कार मानना यानें गीता के सिद्धान्त को (शब्दों में कितना भी आदर भाव प्रकट करने पर भी) न मानना ही है. इसलिये ज्ञानदृष्टी से ग्यारहवें अध्याय का सांगोपांग विचार नहीं होसकता (कारण वह केवल शब्द मय है) किंतु दिव्यदृष्टी से ही उसका हृद्गत पूर्ण ज्ञात होता है. परंतु सत्-दर्शक सत्-गुरु के पास न जाते हुवे घर बैठे और तर्क की कसरत करनेवालों को इसका सूक्ष्मभेद ज्ञात नहीं होसकता.

पूर्वपक्ष कहता है कि 'महाभारत में जो जों बातें मानी गई हैं...... जिन जिन तत्त्वों का महाभारत में प्रतिपादन किया है, गीता उनका विरोध नहीं कर सकती किंतु उन्हीं की पुष्टि करती है, (पृ. ६) अव्वल तो वेद व्यासजी का भारत ग्रंथ असली कितना है इस विषय में तज्ञों का मतभेद है. भारत ग्रन्थ मूल थोडा है और क्षेपक अधिक है यह अब निश्चित होचुका है इसलिये क्षेपकों में चाहे जैसी सिद्धांत विरोधी बातें वर्णित हों तो वे सब गिता को मान्य होनाही चाहिये यह कहना अन्याय है. दूसरी बात यह कि कोई भी कथा या सिद्धांत हो उसकी अनुभव में सब से सर्व समय संभाव्यता होनी चाहिये तभी वह सत्य, नहीं तो उसे काल्पनिक एक देशीय समझना. गीताभाष्य, गीता रहस्य, इत्यादि एक व्यक्ति के सुसंबद्ध ग्रन्थ हैं, जिसमें एक व्यक्ति का मत आदि से अंत तक पाया जाता है, उस प्रकार आज का महाभारत सब वेद व्यासजी का ही रचाहुवा नही है, उसमें अनेकों के अनेक मत है, वे मत यदि सिद्धांत के विरोधी हों तो दो दृष्टी मे ही उनकी ओर देखना चाहिये (१) या तो उनको माननीय नहीं समझना,

अथवा (२) उनको रूपक समझकर उनका ऐसाही अर्थ करना होगा जो समष्टि नियम से अविरुद्ध तथा सार्वदेशीय व सार्वकालिक अनुभव में प्रतीत होसके. निरुपाधिक ब्रह्म से लेकर मंत्रतंत्रादि शक्ति, अविद्यातक २९ तत्व और अन्य भी कुछ (जो लेखकने स्पष्ट नहीं किये हैं) तत्वों पर महाभारत के कथाप्रसंग अधिष्ठित हैं और वे सब सर्वथैव सत्य हैं ऐसा लेखक महाशय मानते हैं; परंतु उनको यह न भूलना चाहिये कि उनमें बहुत से रूपक हैं, कई व्यष्टि कल्पनाए हैं, और कुछ सिद्धांत है. रूपक के कई उदाहरण श्रुतियों में है. जैसे " पितुःपयं परि गृण्हाति माता इ० " यदि इसका शब्दार्थ किया जाय तो " पिता का दूध माता गृहण करती है जिस करके पिताही पुष्ट होता है न कि पुत्र " इससे विपरीतता एवं हेतु शून्यता दिखती है किंतु रूँपकदृष्टी से ही इसका अर्थ ठीक होता है जो अनुभव से भी यथार्थ मालूम होता है. यह बात श्री पं. दीनानाथ शास्त्रीजीनें स्पष्ट बतलाई है. हेतु ग्रहण करना हो तो यही प्रणाली स्वीकार करना पडती है तभी कोई सिद्धान्त अनुभव में मिल सकता है. हम लेखक व संपादक महाशय को आवाहन करते हैं कि क्या वे इन तत्वों को सत्य सिद्ध कर सकते हैं? यदि नहीं कर सकते तो गीता का केवल शब्दार्थ करने के लिये सभी कल्पनाएँ मानने की कोई आवश्यकता नहीं. ७ वे पृष्ट के नोट में संपादक कहते हैं कि 'त्रिकालज्ञत्व सिद्धी का व चमत्कार का गीता अभिनन्दन करती है, लेकिन श्रीकृष्ण के ' बहूनि मे व्यतीतानि ' इस श्लोक का शब्दार्थ तो संपादक जानते हैं किंतु हेत्वर्थ उनके ध्यान में नहीं आया है. यदि संपादकजी कहें कि मुझे बचपन से अपना सब चरित्र मालूम है, तो यह मिथ्या नहीं कह सकते किंतु इसका ऐसा भी अर्थ करना अज्ञनता होगी कि संपादकजीनें २० साल की उमर मे फलां तारीख को फला तरकारी खाई थी! यह भी स्मरण है श्रीकृष्णजीनें गुण परिवर्तन के नियमानुसार तीव्र विवेक जागृती से अपना परिवर्तन स्पष्ट किया है, और आज भी एसा कहनेवाली व्यक्तियां हमारे देखने में है. कृष्ण उदाहरण के लिये एखाद जन्म की अपनी व

अर्जुन की कोई घटना बतला देते तो ठीक भी होता, और यदि बतला भी देते तो उसकी सत्यता का सबूत क्या? अस्तु. ८ वे पृष्ठ में लेखक लिखते हैं कि, कृष्णने योगबल से मानुषीरूप गुप्त करदिया इ०' इस विषय में पहिले हम निःपक्षपात सिद्ध करही चुके हैं तो भी लेखकद्वयोको दिव्य अर्जन देने के हेतु सूचित करते हैं. कि वे भगवान् नें लिखा हुवा 'चमत्कार निर्णय ग्रंथ संपूर्ण अवश्य पढें, और योगादि बल के विषय में पृ० १३८ से २७६ तक व ब परिशिष्ठ, पृष्ट ३००-३२३ विचार पूर्वक मनन करें.

सारांश यह है कि, लेखक व संपादक महाशय! हमारे विश्वरूप मीमांस में सिद्ध किये हुवे सिद्धान्तों में से सप्रमाण एक भी मुद्देका खंडन नहीं का सके हैं. हमारा भी यही कहना है कि 'ज्ञानीदृष्टी' से 'दिव्यदृष्टि' वा 'दिव्यचक्षु' भिन्न है; विज्ञान यानें अपरोक्ष-प्रत्यक्ष-दिव्य-अलौकिक-विशेष ज्ञान है. दिव्यदृष्टि सचमुचही दिव्य है कि जो लोगों में वा लौकिक ग्रंथों में नहीं पाई जाती. नहीं तो लेखक व संपादक महाशनें अथवा और भी कोई विद्वान नें अपने ग्रंथ में 'दिव्यदृष्टि की युक्ति' देकर 'श्रीकृष्णनें दिव्यदृष्टि अर्जुन को दी वह यह है' ऐसा स्पष्ट अंगुलिनिर्देश क्यों नहीं किया! जैसा कि भगवान् श्रीमायानंद चैतन्य नें स्पष्ट शब्दों में जताया है कि 'श्रीकृष्णरूप से जो दिव्यदृष्टी मैने अर्जुनको दी थी वही दिव्यदृष्टि वर्तमान समय में सबको देरहा हूं, इसे ग्रहण करने से शनैः शनैः धर्मग्लानि मिट जायगी' परंतु इतना इशारा सात्विक बुद्धिमानों के लिये पर्याप्त है. जो इसी समय उनकी भूमिका यथार्थरूप से पहिचान रहे हैं; रज तम भावना वाले लोग यदि अभिमान त्याग कर भगवान से दिव्यदृष्टी लेंगे तो कुछ समय मननरूप तप में व्यतीत होने के पश्चात् उपरोक्त मीमांसा में दिये हुवे विधान उनको सर्वतापरि सत्य प्रतीत होंगे. [संपादक]

हुई व्याख्या किंचित्मात्र भी बुद्धिग्राह्य सिद्ध नहीं होती; अर्थात् 'दिव्यदृष्टि' क्रियायोग से मिलनेवाली दृष्टि नहीं.

'दिव्यदृष्टि' किसे कहते हैं?

जिस योग (युक्ति) से सत्, चित् आनंदमय विश्वरूप परमात्मा से चराचर वस्तु मात्र का अभिन्नत्व (अनन्यता) एकही समय अनेकों को प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध होसके वही यथार्थ (सत्यतः) दिव्यदृष्टि वा दिव्यचक्षु है. यह बुद्धिग्राह्य योगयुक्ति **भगवान् श्री मायानन्द चैतन्यजी** ने 'दिव्यदृष्टि' प्रकरण में तथा 'सर्वांगयोग' में अति सरलता व सुस्पष्टरीति से आविष्कृत की है. उसमें सूचित किये अनुसार वस्तु (मिश्री) अपने सन्मुख रख अष्टधा प्रकृति (क्षर) की व्याप्ति प्रथम उस वस्तु में स्पष्ट जानकर उसीको सर्वत्र देखना. पश्चात् अक्षर (आत्मा) का अविनाशित्व भाव याने मिठास अथवा प्रियत्व के अस्तित्व को बुद्धि से पहिचान उसीका विश्व में अनुभव करना तदनंतर क्षर व अक्षररूप दोनों कल्पित (समझाने के लिये मानी हुई) भावनाओं के लयका स्थान (सर्वरूप से जैसी शर्करा, तद्वत) 'वासुदेवः सर्वमिती' इस पुरुषोत्तम पद का अनुभव से निश्चय करना. चित्त स्थिर होने की यही सची 'गुरु कुंजी' है. क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम ये तीनों भाव

रहित इस स्वयंभू अविनाशी विश्वरूपको ही गीता में ' परमात्मा " यह नाम दिया है. इसी विश्व को परब्रह्म कहते हैं 'दिव्यदृष्टि' द्वारा अर्थात् इस ग्रंथ के शुरु में दिये हुए युक्ति से (सप्रयोग) सूक्ष्म जो विचार करके अनुभव लेवेंगें उनको स्थिर आनंद प्राप्त होगा.

संपादक.

समाप्त